श्री उदयराज जैन (स्मारक) ग्रन्थमाला का प्रथम पुष्प (१)

श्रीमत्पूज्यवर आचार्य श्रीउमास्वामी महाराज कृत,
मोक्ष शास्त्र, अथवा तत्वार्थसूत्र के
पहले और दूसरे अध्याय की
सरल, सुबोध, हिन्दी टीका।

अर्थात्

तत्वार्थदीपिका

प्रथम खंड

(१)

टीकाकार—
अटेर (ग्वालियर) निवासी
बटेश्वरदयालु बकेवरिया, शास्त्री,
(सिद्धान्तभूषण, विद्यालंकार)

प्रकाशक—
संचालक—श्री उदयराज जैन ग्रन्थमाला कार्यालय,
अटेर (भिण्ड), ग्वालियर स्टेट।

चैत्र (अप्रैल)
प्रथमवार] वीर सं० २४६३ (सन् १६३७) [मूल्य १॥)

गयादत्त प्रेस, बाग दिवार देहली में मुद्रित।

नियमावली—

१—एक रुपया प्रवेश फीस देने पर प्रत्येक व्यक्ति इस कार्यालय का स्थायी ग्राहक बन सकता है। स्थायी ग्राहकों को कार्यालय से प्रकाशित समस्त पुस्तकें पौने मूल्य में दी जायेंगी। स्थायी ग्राहकों को आवश्यक है, कि कार्यालय से आगे छपने वाली सभी पुस्तकों की एक२ प्रति अवश्यमेव खरीदें। परन्तु एक प्रति से अधिक प्रतियां इस मूल्य में देना, या न देना, संचालकों की इच्छा पर निर्भर है। नवीन पुस्तक छपने के वाद उसकी सूचना ग्राहकों को भेज दी जावेगी। वी. पी. वापिस कर देने पर उनका नाम ग्राहक श्रेणी से पृथक् कर दिया जायगा। नाम खारिज होनेपर उनका जमा किया हुआ रुपया वापिस नहीं किया जायगा। पुस्तकालयों और शिक्षा संस्थाओं को मुफ्त में स्थायी ग्राहक बना लिया जायगा।

२—एक रुपये से कम की पुस्तकों के लिये पुस्तकों के मूल्य और महसूल सहित डाक के टिकिट भेजना चाहिये। यदि डाकमें या रेलवे पार्सल में पुस्तकें खोई जायेंगी, तो उनके उत्तरदाता हम न होंगे। वी. पी. वापिस कर देने पर और उसका हर्जाना न देने पर पुनः वी. पी. न भेजा जायगा। कोई पुस्तक वापिस नहीं लौटाई जायगी।

३—५) रु० से अधिक की पुस्तकों पर एक आना रु० कमीशन दिया जायगा। बुकसेलरों को उचित कमीशन दिया जायगा। और वे जितनी पुस्तकें एक वार लेंगे, उनका मूल्य वी. पी. से वसूल किया जायगा। सुविधानुसार अन्य प्रकाशकों की भी पुस्तकें विक्रियार्थ रक्खी जावेंगी

४—जो सज्जन किसी पुस्तक के छपने से पूर्व कम से कम सौ प्रतियों के ग्राहक होजावेंगे, उनका शुभ नाम सधन्यवाद पुस्तक के साथ छपवा दिया जायगा। एवं पुस्तक छपने से प्रथम ग्राहक होने वालों को वह पुस्तक पौने मूल्य में दी जायगी। सब तरह का पत्र व्यवहार साफ हिन्दी में करना चाहिये।

पत्र व्यवहार का पता—

संचालक, श्रीउदयराज जैन ग्रन्थमाला कार्यालय
पो० अटेर (भिण्ड) ग्वालियर स्टेट

उपहार

स्वर्गीय पूज्यपाद पिताजी !

आप अपने इस प्रिय पुत्र को अबोध दशा (मात्र चार वर्ष की अल्पायु) में, माताजी की स्नेहमयी गोद में छोड़कर, स्वर्गीय रत्न बन गये थे। उसके पश्चात् अनेक विषम परिस्थितियों का सामना करते हुये, जो यत् किंचित् ज्ञान प्राप्त किया है, उसको इस पुस्तक (टीका) के रूप में उपहार लेकर उपस्थित हुवा हूं।

यद्यपि आपके लिये स्वर्ग में किसी वस्तु की कमी नहीं है, पर तथापि आपके बहु मूल्य गुणों की स्मृति में श्रद्धा से प्रस्तुत की हुई, इस तुच्छ भेट को पुत्र प्रेम से अवश्य स्वीकार कीजिये। और अपने प्रिय पुत्र को आशीष दीजिये, कि वह अपनी जाति, देश, और धर्म की अधिक से अधिक सेवा करता हुवा, पवित्रता से जीवन पथ पर गमन करके, पारमार्थिक कर्तव्य पालन में निश्चल रह कर अपना जीवन सार्थक करे।

आपका प्रिय पुत्र—

बटेश्वरदयालु बकेवरिया, शास्त्री

अटेर (ग्वालियर) निवासी

श्री उमास्वामी महाराज कृत तत्त्वार्थसूत्र, या मोक्षशास्त्र, व्यवहार नय से जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, इन सात प्रयोजन भूत तत्वों को दिखाने के लिये अद्भुत दर्पण है। जैसे-एक छोटे से दर्पण में बड़े २ विशाल महल, व उपवन, झलक जाते हैं, वैसे दस मिनिट में पढ़ने योग्य सूत्रों से सारा तत्वज्ञान प्रगट हो जाता है।

इस प्राणी को यही जानना है, कि मैं क्या हूँ ? मेरी दुःखित सुखित अवस्था का क्या कारण है ? जिसका मेरे साथ संयोग है ? वह संयोग कैसे होता है ? उस संयोग से क्या २ दुर्गति होती है ? उस संयोग के रोकने का तथा दूर करने का क्या उपाय है ? संयोग मिल जाने पर क्या दशा होती है ? इन्हीं जरूरी बातों को इन सात तत्वों में बताया गया है। पाप पुण्य मई जड़ कर्मों का संयोग ही इस जीव की अशुद्धता का कारण है। स्वभाव से यह जीव शुद्ध जीवत्व को रखने वाला है। विभाव दशा में होने से मन, वचन, काय, से राग-द्वेष सहित नाना प्रकार की क्रियाओं को करने से कर्म वर्गणाओं को आकर्षण कर बंध जाता है। जब तक बन्ध रहता है, तब तक उसका फल भोगता है। संसार के दुःखों से छूटने का उपाय राग, द्वेष, मोह का त्याग करते हुये साधु या श्रावक का चारित्र पालन करना जरूरी है।

स्वतंत्रता का मार्ग रत्नत्रय है। अर्थात्—एकाग्र होकर शुद्धात्मा का ध्यान है। शुद्धात्मा के ध्यान से ही सर्व कर्म कट जाते हैं। और यह आत्मा शुद्ध सिद्ध निर्वाण पद का स्वामी हो जाता है। निर्वाण के मार्ग को जानने के लिये इस अपूर्व ग्रन्थ का मनन करना जरूरी है।

इस ग्रन्थ की बहुत सी संस्कृत व हिन्दी टीकायें हैं। सब से प्राचीन श्री समन्तभद्राचार्य कृत 'गन्ध हस्ति महाभाष्य' है, उसका पता अबतक नहीं

लगा है। उसके पीछे की बड़ी ही उपयोगी संस्कृत टीका श्रीपूज्यपादाचार्य कृत 'सर्वार्थसिद्धि' है। इसमें जीवादि तत्वों का अर्थ बहुत अच्छा खोला है। फिर उसके पीछे श्री अकलंकदेव ने 'राजवार्तिक' टीका की है। इसमें व्याकरण और न्याय के द्वारा सूत्रों को विस्तार से प्रगट किया है। फिर इस तत्वार्थसूत्र के रहस्य को न्याय की अद्भुत शैली व अकाट्य युक्तियों से विस्तार करने वाली श्री विद्यानन्दि स्वामी कृत 'श्लोकवार्तिक' है। इनमें पं० जयचन्दजी ने 'सर्वार्थसिद्धिः' की भाषा टीका यत्र तत्र न्याय के विषय को बढ़ा कर प्रतिपादन करते हुये की है।

'राजवार्तिक' की भाषा टीका पं० पन्नालालजी दूनी वाले, व पं० गजाधरलालजी शास्त्री ने की है। 'श्लोकवार्तिक' को वृहद् भाषा टीका १॥ डेढ़ लाख श्लोकों में अधिक प्रसिद्ध विद्वान् न्यायाचार्य पं० माणिकचन्दजी ने की है। पं० सदासुखजी ने इन सब संस्कृत टीकाओं का सार लेकर संक्षेप से 'अर्थ प्रकाशिका' टीका की है। साधारण बुद्धि के धारी नर नारियों के लिये यह 'अर्थ प्रकाशिका' टीका बहुत उपयोगी है, परन्तु यह जयपुरी भाषा में है, अतः आज कल के अल्प विद्या वालों के लिये कठिन है।

वर्तमान प्रचलित सुगम हिन्दी में शब्दार्थ मात्र छोटी २ टीकायें और भी हैं, उनसे विद्यार्थी को परीक्षा में उत्तीर्ण होने मात्र योग्यता होती है तत्व का स्वरूप साफ़ साफ़ ध्यान में नहीं आता। इस बात की बड़ी भारी जरूरत थी, कि कोई आधुनिक विद्वान् कठिन विषयों को दिखलाने वाली टीका न करके स्वतंत्रता से मूल सूत्र पर ऐसा कथन करे, जिससे छात्रों को भी, व स्वाध्याय करने वालों को भी विशेष ज्ञान होजावे, और बहुत कठिन विषय भी सामने न आवें, जिस से कि साधारण बुद्धि वालों का मन घबड़ा जावे। इस जरूरत की पूर्ति पं० बटेश्वरदयालजी बकेवरिया, शास्त्री कृत टीका ने कर दी है। यद्यपि पं० जगरूपसहाय वकील द्वारा सम्पादित 'सर्वार्थसिद्धि' की बड़ी टीका आजकल की हिन्दी भाषा में है, तथापि वह विशेष बुद्धि वालों के ही पढ़ने लायक है। पं० बटेश्वरदयालजी बकेवरिया कृत इस तत्वार्थदीपिका टीकाको मैंने

विचार पूर्वक आदि से अन्त तक पढ़ा है। साधारण बुद्धि वालों को सात तत्व का रहस्य बतानेके लिये यह बड़ी उपयोगी टीका है। इस टीका में विशेषता यह है कि सम्पादक ने स्वतंत्रता से श्लोकवार्तिक, राजवार्तिक, सर्वार्थसिद्धि, के विषयों को बड़ी सुगम भाषा में यथास्थान जोड़ दिया है। तथा साधारण बुद्धि धारकों में जो सहज ही प्रश्नों का उठ जाना संभव है, उनका यथावश्यक खुलासा किया है।

जो तत्वार्थसूत्र की परीक्षा पास कर चुके हैं, उनको पदार्थ का स्वरूप समझने के लिये यह टीका बड़ी उपयोगी पड़ेगी। स्वाध्याय करने वालों को तो क्रियाकोश, या पद्मपुराण, पढ़ने के समान मनोरंजक प्रतीत होगी।

पांचवें अध्याय में द्रव्यों का स्वरूप बहुत साफ २ खोला है छट्ठे में भावास्रवों को बहुत विस्तार से बताया है, सातवें में श्रावकाचार का विषय स्पष्ट कर दिया है। पहले में सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय का, पांच ज्ञानों का और नय निक्षेपों का महत्वपूर्ण खुलासा है। साधारण बुद्धिवालों को जितना जरूरी समझना योग्य है, उतना ही प्रकरण दिया है। पढ़ने से आकुलता हो, ऐसी कठिन बातों को स्पर्श नहीं किया है, कहीं२ पर अच्छे २ प्रश्न उठाकर उनका समाधान किया है। सारांशतः यह टीका तत्वार्थसूत्रको समझने के लिये बहुत ही अच्छी तैयार की गई है। अतएव मैं प्रत्येक नर नारी से अनुरोध करताहूं कि इस टीका को अवश्य पढ़ें।

जिस जैनी ने सात तत्वों को नहीं समझा, वह अपनी आत्मा का उद्धार नहीं कर सकता। इसलिये हर एक को उचित है कि इस टीका को ध्यान से पढ़कर तत्व ज्ञान का लाभ उठावें।

हिसार (पंजाब) तत्वज्ञान का प्रेमी—
ता० १४-११-१९३६ ई० ब्रह्मचारी सीतलप्रसाद

टीकाकार का वक्तव्य

जैन समाज में ऐसा कौन व्यक्ति होगा, जो श्री उमास्वामि महाराज कृत 'मोक्षशास्त्र' या 'तत्वार्थसूत्र' का नाम न जानता हो। क्या पुरुष, क्या स्त्री, क्या वृद्ध, क्या बालक, सभी इस ग्रन्थराज के नाम से भली भांति परिचित हैं। इस महान् ग्रन्थ का इतना अधिक महत्व है, कि हमारी समाज में ऐसे अनेक स्त्री पुरुष होंगे, कि जो 'श्रीतत्वार्थसूत्र' का नित्य पाठ करके ही भोजन ग्रहण करते हैं। जो स्वयं नहीं पढ़ सकते, वे सुनकर ही अपना कल्याण करते हैं। इसके महत्व के विषय में लिखा है कि—

दशाऽध्याये परिछिन्ने तत्वार्थे पठिते सति।
फलं स्यादुपवासस्य भाषितं मुनि पुंगवैः॥ १॥

अर्थात् 'तत्वार्थ सूत्र' के दशाऽध्यायों का पाठ मात्र करने से एक उपवास करने का फल होता है। श्री उमास्वामि महाराज ने इस ग्रन्थराज को रच कर 'गागर में सागर' की कहावत को चरितार्थ करके दिखा दिया है। देखने में तो यह ग्रन्थ छोटासा ही है, किन्तु इसके दश ही अध्यायों में समूचे जैन धर्म के तत्वों का वर्णन इतने अच्छे ढंग से किया है, कि देखते ही बनता है। इसके सूत्र इतने गम्भीर हैं, कि उनके एक २ पद में ही गूढ़ और व्यापक रहस्य छिपा हुवा है। जैन धर्म के ग्रन्थों में तत्वार्थसूत्र के समान संक्षेपतः विशद, और व्यापक, वर्णन करने वाला दूसरा कोई ग्रन्थ नहीं है। इसको यदि जैन धर्म की 'बाइबिल' कहा जाय, तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। इसके विचार पूर्वक पढ़ने से समूचे जैनधर्म का थोड़े से में अच्छा ज्ञान हो जाता है।

इस ग्रन्थ पर बड़े २ प्राचीन आचार्यों ने संस्कृत भाषा में बड़ी २ विशाल बहुमूल्य टीकायें रची हैं। जिनमें इस समय श्री

विद्यानन्दि स्वामी कृत 'श्लोकवार्तिक' श्री अकलंकदेव कृत 'राजवार्तिक' और पूज्यपाद स्वामी रचित 'सर्वार्थसिद्धिः' अधिक प्रसिद्ध हैं। स्वामी समन्तभद्राचार्य प्रणीत 'गन्ध हस्ति महाभाष्य' नाम की संस्कृत टीका अप्राप्य है। उपर्युक्त तीनों संस्कृत टीकाओं का हिन्दी अनुवाद भी होचुका है। पं०माणिकचन्दजी न्यायाचार्य कृत 'श्लोकवार्तिक' के हिन्दी अनुवाद के अतिरिक्त शेष दोनों के हिन्दी अनुवाद प्रगट भी हो चुके हैं। इन अनुवादों के अतिरिक्त मूल सूत्रों पर पं०सदासुखजी रचित 'अर्थ प्रकाशिका' और पं०जयचन्दजी कृत 'सर्वार्थसिद्धिः वचनिका' भी प्रकाशित होचुकी है।

'राजवार्तिक' और 'सर्वार्थसिद्धिः की हिन्दी टीकायें इतनी विशाल एवं कठिन हैं, कि विद्वानों के अतिरिक्त अन्य सामान्य जनता उनसे भले प्रकार लाभ नहीं उठा सकती है 'अर्थप्रकाशिका' और पं० जयचन्दजी कृत 'सर्वार्थसिद्धिः वचनिका' की जयपुरी भाषा होने के कारण आज कल के नवशिक्षित युवक, उनकी उस पुरानी भाषा को न तो पसन्द ही करते हैं, और न उनकी समझ में ही आती है। कुछ दो एक टीकायें और भी हैं, परन्तु वे इतनी संक्षिप्त हैं, कि उनसे सूत्रों का शब्दार्थ मात्र ही ज्ञान होता है।

जिस समय (सन् १६२६ और ३०) मैं श्री भदावर प्रां० दि० जैं० विद्यालय भिंड (ग्वालियर) में प्रधानाध्यापक के पद पर कार्य संचालन करता था, तो विद्यालय के विद्यार्थी 'तत्वार्थसूत्र' को पढ़ते समय उस बताये हुये अर्थ को रट लिया करते, पश्चात् उसे परीक्षा में लिख देने पर वे उत्तीर्ण भी हो जाते थे, किन्तु उन्हें 'तत्वार्थसूत्र' के विषयों में साधारण ज्ञान भी नहीं होता था। और ऐसा प्रायः सभी विद्यालयों के अधिकांश छात्र करते भी हैं। उनकी यह 'प्रवेशिका परीक्षा' की रही हुई त्रुटि आगामी चलकर 'शास्त्रीय' और 'न्यायतीर्थ' जैसी उच्च परीक्षायें उत्तीर्ण करने पर

भी पूर्ण नहीं होती। यही कारण है कि कितने ही 'न्यायतीर्थ' और 'शास्त्रीय' परीक्षोत्तीर्ण ऐसे भी देखे गये हैं, कि वे किसी विषय का भले प्रकार प्रतिपादन नहीं कर सकते। अस्तु!

देवबन्द (सहारनपुर) रहते हुये मेरे एक आर्यसमाजी विद्वान् मित्र ने एक बार मुझ से जैन धर्म का साधारण ज्ञान प्राप्त करने के लिये आचार्य प्रणीत हिन्दी टीका सहित कोई ग्रन्थ मांगा। मैंने उपयोगी समझ कर उनको 'राजवार्तिक' और सर्वार्थसिद्धि के हिन्दी अनुवाद, 'अर्थ प्रकाशिका' आदि सभी तत्वार्थ सूत्र की उपलब्ध हिन्दी टीकायें पढ़ने के लिये दीं, परन्तु उनको किसी से भी सन्तोष नहीं हुआ। पश्चात् जब मैंने उनसे इस असन्तोष का कारण पूछा, तो वे बड़े खिन्न हृदय से कहने लगे कि "इसमें सन्देह नहीं, कि यह ग्रन्थ जैन धर्म के साधारण ज्ञान के लिये बड़ा उपयोगी है, और इसकी टीकायें भी निहायत अच्छी हैं, परन्तु 'राजवार्तिक' का हिन्दी अनुवाद तो इतना विशाल एवं गम्भीर है, कि मेरे पास इतना समय और बुद्धि नहीं, कि मैं इसे देख सकूं। 'सर्वार्थ सिद्धिः' के अनुवाद का ढंग ही ऐसा है कि उसको विद्वान और जानकार ही पढ़ सकते हैं। शेष 'अर्थ प्रकाशिका' और 'सर्वार्थसिद्धिः वचनिका' की जयपुरी भाषा होने के कारण मेरी समझ में नहीं आती है"।

इसमें सन्देह नहीं कि 'तत्वार्थसूत्र' जैसे महत्व पूर्ण ग्रन्थ को समझने के लिये वर्तमान प्रचलित सरल हिन्दी में एक अच्छी टीका के लिखे जाने की आवश्यक्ता बहुत समय से प्रतीत हो रही है। मेरे कितने ही मित्रों ने मेरा ध्यान इस आवश्यक्ता की पूर्ति के लिये कितनी ही बार आकृष्ट किया, परन्तु मैं अपने आप को इस महान् कार्य के सम्पादनार्थ सर्वथा अयोग्य समझता रहा, और इधर कुछ योग्य कारण कलाप न मिल सकने से कुछ न होसका।

जब तक किसी योग्य विद्वान् द्वारा इस से अधिक उपयोगी दूसरी टीका तैयार न हो तब तक पाठकों को इसी पर सन्तोष रखकर ज्ञान वृद्धि करना चाहिये।

हिसार (पंजाब) आजाने के बाद यहां के मित्रों ने भी इस कार्य की पूर्ति के लिये अनुरोध किया। योग्य कारणकलाप देखकर इस टीका के लिखने का 'श्रीगणेश' कर ही दिया गया। लगातार कई मास प्रति दिन कई २ घंटे परिश्रम करके जब (दीपावली तक) इसके सात अध्याय लिखे जा चुके, और उनको ब्र०शीतल-प्रसादजी ने चातुर्मास के समय अवलोकन किया, तो फिर मित्रों की सम्मति हुई कि इसको जल्दी ही प्रकाशित करनी चाहिये। इस समूची टीका को एक ही जिल्द में प्रकाशित न करके, दो खंडों में प्रकाशित करने का विचार किया गया था, परन्तु प्रकाशन सम्बन्धी कुछ ऐसी कठिनाइयां एवं असुविधायें आकर उत्पन्न हो गईं, कि इसको चार खंडों में प्रकाशित करने के लिये विवश होना पड़ा। जिसके लिये मैं अपने प्रेमी मित्रों और सहृदय पाठकों से क्षमा चाहता हूँ। यदि पाठकों ने इसको पसंद किया, और पुनः प्रकाशित करने की आवश्यकता प्रतीत हुई, तो भविष्य में कुछ सुधारों के साथ एक या दो जिल्द में प्रकाशित कर दिया जायगा।

इसके सम्पादन में इस बात पर पूर्ण ध्यान रक्खा गया है, कि 'सूत्र' में वर्णित प्रत्येक विषय संक्षेपतः स्पष्ट होजावे, यद्यपि विषय को स्पष्ट करने के अभिप्राय से यत्र तत्र थोड़ा बहुत विस्तार भी करना पड़ा है, किन्तु उसको अनावश्यकता एवं अरोचकता से अलग रक्खा गया है। वैसे तो इस ग्रन्थ के प्रतिपादित विषय सैद्धान्तिक होनेके कारण इतने गम्भीर एवं गूढहैं कि उनका विशद वर्णन संक्षेप में करना अत्यन्त कठिन है। तथापि प्रत्येक विषय का भली भांति स्पष्टीकरण करने का यथासंभव पूर्ण उद्योग किया

गया है। पाठकों की ज्ञानवृद्धि के लिये समुद्घात, गुणस्थान, पर्याप्ति, आदि ऐसे कितने ही अन्य उपयोगी विषय भी बढ़ा दिये गये हैं, जो मूल ग्रन्थ में नहीं हैं। विद्यार्थियों की सुविधा के लिये संस्कृत सूत्रों का अन्वय सहित अर्थ दे दिया है। उसके बाद 'विशेषार्थ' में प्रत्येक विषय पर स्वतंत्रता से विवेचन किया गया है। कठिन विषयों को सरल बनाने के लिये उदाहरणों का भी प्रयोग किया गया है तथा यत्र तत्र भावार्थ भी दिया गया है। प्रतिपादित विषयों की प्रामाणिकता के लिये अन्यान्य ग्रन्थों के संस्कृत प्राकृत प्रमाण भी उद्धृत कर दिये गये हैं। कहीं २ पर शंकाओं और प्रश्नों को उठा कर पुनः उनका समाधान करके विषय को स्पष्ट किया गया है। जहां २ पर और जिस २ विषय में जैन विद्वानों के भिन्न २ मत मालूम होसके हैं, उनको भी प्रगट कर दिया है। पढ़ते समय टिप्पणियों को भी बड़े ध्यान से पढ़ना चाहिये। जहां पर जो कथन जिस अपेक्षासे किया गया है, वहां पर उस अपेक्षाको ब्रेकिट में दिखा दिया है। सारांशतः इस टीका को अधिक से अधिक रोचक और उपयोगी बनाने की पूर्ण चेष्टा की गई है।

इस टीका के सम्पादन में मुझे कितनी ही संस्कृत और हिन्दी टीकाओं, एवं मूल ग्रन्थों से बड़ी सहायता प्राप्त हुई है, अतएव मैं उन ग्रन्थों के रचयिताओं, एवं टीकाकारों का हृदय से आभार मानता हूं। ग्रन्थ सम्पादन जैसे उत्तरदायित्व पूर्ण कार्य में मेरा यह प्रथम ही अवसर है, इसलिये यह अधिक आवश्यक है, कि इस कार्य में अनेक त्रुटियां हों, और यह भी संभव है कि अज्ञान व प्रमाद के कारण कोई बात विपरीत भी लिखी गई हो, मैं अपने प्रेमी पाठकों से निवेदन करता हूँ कि उन भूलोंको ठीक करके मुझे क्षमा करते हुये सूचित करदें, ताकि भविष्य में उनको ठीक किया जा सके। मैं इस महान् कार्य में कहां तक सफल होसका हूं, इसका

निर्णय तो विद्वान् पाठक ही कर सकेंगे, किन्तु यहां पर मैं इतना अवश्य कहूंगा, कि यदि पाठकों ने इसको पसंद किया, और इससे कुछभी लाभ उठाया, तो मैं अपने परिश्रमको सफल हुवा समझूंगा।

श्रद्धेय ब्र० शीतलप्रशादजी ने (हिसार में चातुर्मास के समय) अपने बहुमूल्य समय को देकर इस टीका को आद्योपान्त देखकर अन्य उपयोगी विषयों को बढ़ाने की सम्मति दी, तथा साथ ही भूमिका लिख देने की कृपा की है, इन सब बातों के लिये मैं ब्रह्मचारीजी का बड़ा कृतज्ञ हूं।

हिसार में बा० महावीरप्रशादजी जैन बी. ए. ऐल-ऐल. बी. वकील एक सहृदय और उदार प्रतिष्ठित सज्जन हैं। आप ने इस कार्य में बड़ा सहयोग प्रगट किया है, एवं आपकी सद्भावनाओं का ही यह फल है, कि यह टीका इतनी जल्दी प्रकाशित होसकी है, जिसके लिये मैं आपका अत्यधिक आभारी हूँ। इसके अतिरिक्त मैं अपने उन सब प्रेमी मित्रों का, कि जिन्हों ने इस शुभ कार्य में किसी भी प्रकार से हाथ बंटाया है, आभार मानता हूँ। तथा उनसे यह भी आशा करता हूं कि वे इसके प्रचार का पूर्ण उद्योग करेंगे।

अंत में मैं समाज के अनुभवी और ज्ञानवृद्ध विद्वानों से निवेदन करता हूँ, कि वे इसको आद्योपान्त पढ़जानेके बाद अपनी बहुमूल्य सम्मति अवश्य प्रदान करें, साथ ही इस में जो उन्हें त्रुटियां प्रतीत हों, उनका भी उल्लेख कर दें, जिससे कि आगामी संस्करण में उनका सुधार किया जासके। अपनी त्रुटियों के लिये क्षमा चाहता हुवा इस वक्तव्य को समाप्त करता हूं।

ओ३म् शान्ति, शान्ति, शान्ति,

प्रेम कुटीर
हिसार (पंजाब)
२४ जनवरी सन् १९३७ ई०

जिनवाणी भक्त—
बटेश्वरदयालु बकेवरिया, शास्त्री
अटेर (ग्वालियर) निवासी,

'तत्वार्थदीपिका' के प्रथम खंड

की

पृष्ठ संख्या के अनुसार सूत्रों की अनुक्रमणिका

सूत्र संख्या	पहला अध्याय	पृष्ठ
२२	क्षयोपशम निमित्तः षड् विकल्पः शेषाणाम् ।	१०३
२३	ऋजु विपुलमती मनः पर्ययः ।	१०४
२४	विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः ।	११५
२५	विशुद्धि क्षेत्र स्वामि विषयेभ्योऽवधिमनः पर्ययोः ।	११३
१६	मति श्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्व सर्वपर्यायेषु ।	११७
२७	रूपिष्व वधेः	११६
२८	तदनन्त भागेमनः पर्ययस्य ।	११६
२६	सर्व द्रव्य पर्यायेषुकेवलस्य ।	१२०
३०	एकादीनिभाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः ।	१२२
३१	मतिश्रुतावधया विपर्ययश्च ।	१२५
३२	सदसतोरविशेषाद्यदृच्छोपलब्धेरुन्मनवत् ।	१३०
३३	नैगम संग्रह व्यवहारर्जुसूत्रशब्द समभिरूढैवम्भूतानयाः	१३४
	इति तत्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे प्रथमोऽध्यायःसमाप्तः(१)	१५५

दूसरा अध्याय ॥२॥

१	औपशमिक क्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्यस्वतत्व मौदयिक पारिणामिकौ च ।	१५६
२	द्विनवाष्टादशैक विंशति त्रिभेदा यथाक्रमम् ।	१६०
३	सम्यक्त्व चारित्रे ।	१६०
४	ज्ञान दर्शन दान लाभ भोगोपभोग वीर्याणि च ।	१६४
५	ज्ञानाज्ञान दर्शनलब्धयश्चतुस्त्रित्रिपंचभेदाः सम्यक्त्व चारित्र संयमासंयमाश्च ।	१६८
६	गति कषाय लिंग मिथ्यादर्शना ज्ञाना संयतासिद्धलेश्याश्चतुश्चतुस्त्रये कैकैकैक षड् भेदाः ।	१७२
७	जीव भव्याभव्यत्वानि च ।	१८०

सूत्र संख्या	दूसरा अध्याय	पृष्ठ
८	उपयोगो लक्षणम् ।	१८६
९	स द्विविधोऽष्ट चतुर्भेदः ।	१८७
१०	संसारिणो मुक्ताश्च ।	१८८
११	समनस्का मनस्काः ।	१९१
१२	संसारिण स्त्रसस्थावराः ।	१९२
१३	पृथिव्यप्तेजो वायु वनस्पतयः स्थावराः ।	१९३
१४	द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः ।	१९५
१५	पचेन्द्रियाणि ।	१९७
१६	द्विविधानि ।	१९८
१७	निर्वृत्युपकरणे द्रव्येन्द्रिम् ।	१९९
१८	लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम् ।	२००
१९	स्पर्शन रसन घ्राण चक्षु श्रोत्राणि ।	२०१
२०	स्पर्श रस गन्ध वर्ण शब्दास्तदर्थाः ।	२०२
२१	श्रुतमनिन्द्रियस्य ।	२०४
२२	वनस्पत्यन्तानामेकम् ।	२०५
२३	कृमि पिपीलिका भ्रमर मनुष्यादीनामेकैक वृद्धानि ।	२०६
२४	संज्ञिनः समनस्काः ।	२०६
२५	विग्रह गतौ कर्म योगः ।	२०७
२६	अनुश्रेणि गतिः ।	२०९
२७	अविग्रहा जीवस्य ।	२१०
२८	विग्रहवती च संसारिणः प्राक् चतुर्भ्यः ।	२१०
२९	एक समया विग्रहा ।	२१२
३०	एकं द्वौ त्रीन्वाऽनाहारकः ।	२१३
३१	समूर्च्छन गर्भोप पादाज्जन्म ।	२१९

समाप्तोऽयं प्रथम खंड: ॥२॥

तत्त्वार्थ दीपिका

इस टीका के विद्वान लेखक अटेर (ग्वालियर) निवासी
श्री पं० बटेश्वरदयाल जी बकेवरिया शास्त्री,
(सिद्धान्त भूषण, विद्यालंकार)

पापूलर प्रेस, देहली।

ॐ नमः सिद्धेभ्यः ।

श्रीमत्पूज्यवर आचार्य श्री उमास्वामि विरचित

मोक्षशास्त्र अपर नाम तत्त्वार्थसूत्र की

सरल, सुबोध, हिन्दी टीका* ।

तत्त्वार्थ दीपिका ।

पहला खंड ।

(१)

टीकाकार का मंगलाचरण ।

प्रणम्य शुद्ध चिद्रूपं, परमानन्द संयुतम् ।
तत्त्वार्थ प्रकाशाय, वक्ष्ये तत्वार्थ दीपिकाम् ॥१॥

भावार्थः—परम अर्थात् उत्कृष्ट अतीन्द्रिय आनन्द सहित शुद्ध (निर्विकार) चिद्रूप (सिद्ध परमेष्ठी) को नमस्कार करके तत्वार्थ-सूत्र के वास्तविक अर्थ का विस्तार पूर्वक प्रकाश करने के लिये मैं (बटेश्वरदयालु बकेवरिया) तत्वार्थ दीपिका नाम की सरल हिन्दी टीका का व्याख्यान प्रारम्भ करता हूँ ॥१॥

---

* यह हिन्दी टीका चैत्र कृष्णा पंचमी सं० १६६२ तदनुसार ता० १३ मार्च सन् १६३६ ई० को हिसार (पंजाब) में प्रारम्भ की गई ।

***मोक्ष मार्गस्य नेतारं, भेत्तारं कर्म भूभृताम्।**
ज्ञातारं विश्व तत्वानां, वन्दे तद्गुण लब्धये ॥१॥

भावार्थ:—मोक्ष मार्ग के प्रवर्तक (चलाने वाले) कर्म रूपी पर्वतों के भेदने वाले (नाश करने वाले), और विश्वतत्वों के (संसार के समस्त पदार्थों के) जानने वाले, को मैं उक्त (मोक्ष मार्ग प्रणयन, कर्मभेदन, विश्वतत्व ज्ञान) तीनों गुणों की प्राप्ति के लिये नमस्कार करता हूँ। अर्थात् मैं पूज्यपाद आचार्य (सर्वार्थसिद्धि: के प्रणेता) उसको, जो मोक्ष मार्ग के नेता हैं, जो कर्मों के विनाशक हैं, और संसार भर के समस्त तत्वों को युगपत् (एक समय में) जानते हैं। उपर्युक्त तीनों गुणों के उपार्जन के लिये वंदना करता हूँ।

---

* यह मंगलाचरण रूप श्लोक श्रीमत्पूज्यपाद आचार्य कृत श्री सर्वार्थसिद्धि: संस्कृत टीका का भाग है। तत्त्वार्थ सूत्र का भाग नहीं है, परन्तु उपयोगी समझ कर यहां पर दे दिया है। क्योंकि जैनियों में श्री तत्त्वार्थसूत्र का पाठ करते समय इस श्लोक को मंगलाचरण रूप में पढ़ने की प्रथा प्रचलित है। श्री उमास्वामि महाराज ने भी तत्वार्थसूत्र की आदि में मंगलाचरण अवश्य किया होगा। परन्तु अब तक मेरे देखने में नहीं आया। इस मंगलाचरण के विषय में ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी की यह सम्मति है, कि मंगलाचरण तीन प्रकार का होता है। नमस्कारात्मक, आशीर्वादात्मक, और वस्तु स्वरूप कथनात्मक। जिनमें से श्री उमास्वामि महाराज ने वस्तु स्वरूप कथनात्मक मंगलाचरण किया है। अर्थात् ब्रह्मचारी जी की सम्मति से वस्तु स्वरूप का कथन करते समय नमस्कारात्मक पृथक् मंगलाचरण की आवश्यकता नहीं है। इस विषय पर अन्य विद्वानों को भी विचार करके अपनी सम्मति प्रगट करनी चाहिये।

पहला अध्याय

(१)

यह संसारी प्राणी अनादि काल से पंच †परिवर्तन रूप संसार में चतुर्गति की ‡चारासी लक्ष योनियों में परिभ्रमण करता हुआ नाना प्रकार के कष्ट भोगता आ रहा है। जब तक इसको दुःख से छूटने का, और सुख प्राप्त करने का, सच्चा उपाय मालूम नहीं होता, तब तक जन्म मरण का दुःख दूर नहीं हो सकता। संसार में तो सभी जगह दुःख है। आकुलता रहित सच्चा सुख तो मोक्ष होने पर ही प्राप्त हो सकता है। शुभ कर्मों के उदय से यदि किसी प्राणी को संसारिक सुख प्राप्त भी हो जाता है, परन्तु वह आकुलता सहित होने के कारण सच्चा सुख नहीं कहलाता। सच्चा सुख आत्मिक होता है। जहां पर वह सच्चा आत्मिक और अतीन्द्रिय सुख प्राप्त हो जाता है, उस अवस्था को मोक्ष कहते हैं। संसार से छूट कर अनन्त ज्ञानादिक आत्मिक गुणों के पूर्ण प्रकट हो जाने का नाम ही मोक्ष * है। अतएव सबसे प्रथम मोक्ष का मार्ग (रास्ता) प्रकट करने के लिये सूत्र कहते हैं—

---

† द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, और भाव के भेद से परिवर्तन पांच तरह का होता है जिनका वर्णन यथा अवसर पर किया जायगा।

‡ चौरासी लक्ष योनियों का वर्णन दूसरे अध्याय में योनियों के प्रकरण में किया गया है।

* निरवशेष निराकृत कर्ममल कलंकस्यात्मनोऽचिन्त्य स्वाभाविक ज्ञानादिगुणमव्यावाध सुख मात्यन्तिकमवस्थान्तरं मोक्ष इति। स०सि०

‡ सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः ॥१॥

सूत्रार्थः—[सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि] सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक् चारित्र, इन तीनों का मिलना [मोक्ष मार्गः] मोक्ष का मार्ग है। अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति का उपाय है।

---

‡ इस तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थ की रचना के विषय में कर्णाटक भाषा की तत्त्वार्थ वृत्ति नाम की टीका की प्रस्तावना में एक बड़ी मनोरंजक कथा लिखी है। वह इस प्रकार है कि—सौराष्ट्र (गुजरात) देश के किसी नगर में एक पवित्रान्तःकरण और नित्य नैमितिक क्रियाओं में तत्पर एवं श्रद्धावान् द्वैपायक नामक श्रावक रहता था। वह बड़ा विद्वान् था और वह इसी लिये चाहता था कि मैं किसी उत्तम ग्रन्थ की रचना करूं। परन्तु गार्हस्थ्य जंजाल के कारण अवकाश (समय) न मिलने से कुछ नहीं कर सकता था। निदान, उसने एक दिन प्रतिज्ञा की, कि प्रति दिन जब एक सूत्र बना लूंगा, तब ही भोजन करूंगा। अन्यथा उपवास किया करूंगा। मोक्ष शास्त्र के बनाने का निश्चय करके उसी दिन उसने "दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्ष मार्गः" यह प्रथम सूत्र बनाया। तथा विस्मरण हो जाने के भय से उसने अपने घर के एक खंभे पर उसे लिख दिया। इसके पश्चात् दूसरे दिन वह श्रावक किसी कार्य के निमित्त कहीं अन्यत्र चला गया, और उसके घर एक मुनिराज आहार के लिये आये। मुनि के दर्शन से द्वैपायक की सुशीला गुणवती भार्या ने अत्यन्त प्रसन्न होकर नवधा भक्ति से उन्हें भोजन कराया। भोजन के बाद मुनिराज ने खंभे पर लिखा हुआ वह सूत्र जो द्वैपायक ने लिखा था, देख कर किंचित विचार किया। और तत्काल ही उसके पहले 'सम्यक्' विशेषण लिख कर वहां से चल दिये। तदनन्तर जब द्वैपायक आया, तो उसे अपने लिखे हुए सूत्र में 'सम्यक्' विशेषण अधिक लिखा देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ। और साथ ही सूत्र की शुद्धता से आनन्द भी हुवा। भार्या के पूछने से विदित हुआ,

विशेषार्थः— सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यग्चारित्र, को 'रत्नत्रय' भी कहते हैं। हाथी, घोड़ा, स्त्री, पुरुष, खड्ग, दण्ड, चक्र, चर्म, आदि जो जो पदार्थ अपनी २ जाति में उत्कृष्ट हैं, वे वे

कि मुनिराज आहार के निमित्त पधारे थे। कदाचित् वे लिख गये होंगे। तब श्रावक उसी समय बड़ी आतुरता से उनके खोजने को निकला। यत्र तत्र बहुत भटकने के पश्चात् एक रमणीक वन में उसे उक्त मुनिराज के दर्शन हुये। वे एक बड़े भारी मुनियों के संघ के नायक थे। उनकी गम्भीर मुद्रा के दर्शन मात्र से वह श्रावक जान गया, कि इन्हीं महात्मा ने मेरे सूत्र को शुद्ध करने की कृपा की होगी। पश्चात् वह गद् गद् (आनन्दित) होकर उनके चरणों पर पड़ गया और बोला भगवन्! उस मोक्ष शास्त्र को आप ही पूर्ण कीजिये। ऐसे महान् ग्रन्थ के रचने की शक्ति मुझ में नहीं है। आपने बड़ा उपकार किया, जो मेरी वह बड़ी भारी भूल सुधार दी। सच है, दर्शन, ज्ञान, चारित्र, मोक्ष का मार्ग नहीं है। किन्तु 'सम्यग्दर्शन' 'सम्यग्ज्ञान' और 'सम्यग्चारित्र' ही मोक्ष का मार्ग है"। अतएव "सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः" ही परिपूर्ण और शुद्ध सूत्र है।

श्रावक के उक्त आग्रह और प्रार्थना को मुनिराज टाल न सके, और निदान, उन्होंने इस तत्त्वार्थसूत्र (मोक्षशास्त्र) को रच कर पूर्ण किया। पाठक! वे मुनिराज और कोई नहीं, हमारी इस मनोहर एवं मनोरंजक कथा के मुख्य नायक भगवान् उमास्वामि महाराज ही थे। भगवान् उमास्वामि श्रीमत्कुन्दकुन्द आचार्य (जिन्होंने प्राकृत भाषा में अनेक ग्रन्थराजों की रचना की है) के शिष्य थे।

उमास्वामि सूरि का जन्म दिगम्बर सम्प्रदाय की पट्टावलियों के अनुसार विक्रम सम्वत् ८१ में हुआ था। १९ वर्ष की अल्प वय में आपने जिन दीक्षा धारण की। पश्चात् २५ वर्ष दीक्षित रहने के बाद नन्दि संघ के पट्ट पर विराजमान होकर आचार्य पद प्राप्त किया। उन्होंने ४० वर्ष

उस जाति में 'रत्न' †कहलाते हैं। मोक्ष के साधन में ये तीनों ही आत्म गुण सर्वोत्कृष्ट हैं। अतएव इनको 'रत्नत्रय' कहते हैं। आर यही मोक्ष का मार्ग है। निश्चय और व्यवहार के भेद से यह दो प्रकार का होता है। जीवादिक ‡ प्रयोजन भूत पदार्थों के सत्य (यथार्थ एवं निर्दोष) श्रद्धान को 'व्यवहार सम्यग्दर्शन' कहते हैं। और इन्हीं जीवादिक प्रयोजन भूत पदार्थों के यथार्थ ज्ञान को 'व्यवहार सम्यग्ज्ञान' कहते हैं। एवं संसार की कारण भूत (आश्रव बन्ध कराने वाली) राग द्वेष जनित मन वचन काय रूप योगों की सर्व सावद्य रूप क्रियाओं का सम्यक् रीति से त्याग करना 'व्यवहार सम्यग्चारित्र' है। और पदार्थों से भिन्न आत्मा के शुद्ध स्वरूप के सत्य (यथार्थ) श्रद्धान को 'निश्चय सम्यग्दर्शन' और उसी शुद्ध आत्म स्वरूप के यथार्थ ज्ञान को 'निश्चय सम्य-

---

८ दिन आचार्य पद पर रह कर परम धर्म का उपदेश किया। तत्त्वार्थसूत्र दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायों में माना जाता है। दिगम्बर सम्प्रदाय उनको उमास्वामि के नाम से दिगम्बर आचार्य मानता है। और श्वेताम्बर सम्प्रदाय वाले उनको उमास्वाति के नाम से श्वेताम्बर आचार्य मानते हैं। पीछे से अपने २ माने हुये सिद्धान्तों के अनुसार तत्त्वार्थ सूत्र के पाठ में भी भेद कर दिया गया है। यही कारण है कि जहां तहां सूत्रों में भी पाठ भेद दिखलाई देता है।

† "जातौ जातौ यदुत्कृष्टं तद् तद् रत्न मिहोच्यते"

‡ व्यवहार मोक्ष मार्ग में जीवादिक सात तत्त्व, और निश्चय मोक्ष मार्ग में एक निज आत्मा ही, प्रयोजन भूत है। अतएव व्यवहार मोक्ष मार्ग में सात तत्वों का, और निश्चय मोक्ष मार्ग में निज आत्मा का, श्रद्धान करना चाहिये, और यही क्रमशः व्यवहार और निश्चय सम्यग्दर्शन कहा जाता है।

ज्ञान' एवं शुद्धात्म तत्व के स्वरूप में मग्न (स्थिर अर्थात् आत्मस्थ) हो जाने को † 'निश्चय सम्यग्चारित्र' कहते हैं। इन तीनों को आत्म विश्वास, आत्मज्ञान, आत्म मग्नता, के नाम से भी कह सकते हैं।

वास्तव में आत्मा का शुद्ध स्वभाव ही मोक्ष का मार्ग है, और उसी की ये तीन अवस्थायें हैं। इनको यदि संक्षेप में कहना चाहें, तो 'शुद्धोपयोग' के नाम से भी कह सकते हैं। इन तीनों अवस्थाओं में उत्तरोत्तर शुद्धोपयोग (वीतरागभाव) ही की उन्नति, और वृद्धि, होती गई है। अतएव 'शुद्धोपयोग ही वास्तविक मोक्ष मार्ग' है। जब तक शुद्धोपयोग रूप निश्चय रत्नत्रय की प्राप्ति न हो सके, तब तक (शुद्धोपयोग रूप मोक्ष मार्ग की प्राप्ति के लिये) व्यवहार रत्नत्रय का साधन करते हुए, व्यवहार मोक्ष मार्ग पर ही चलना उचित है। यही कारण है, कि शास्त्रों में व्यवहार रत्नत्रय को निश्चय रत्नत्रय की प्राप्ति का कारण लिखा है। परन्तु यहां पर यह बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिये, कि व्यवहार रत्नत्रय उसी अवस्था में निश्चय रत्नत्रय का कारण माना जायगा, जब कि वह निश्चय रत्नत्रय का साधक, और सहायक, होगा। यदि व्यवहार रत्नत्रय, निश्चय मोक्ष मार्ग का, साधक और सहायक न हो कर विरोध और घातक हो जायगा, तो फिर वह कारण न माना

† पं० दौलतराम जी ने अपने छहढाला में निश्चय रत्नत्रय का इस तरह वर्णन किया है—

पर द्रव्यनि तें भिन्न आप में, रुचि सम्यक्त भला है।
आप रूप को जानपनो सो, सम्यक् ज्ञान कला है॥
आप रूप में लीन रहे थिर, सम्यक् चारित्र सोई।
'तीसरी ढाल।'

जायगा। इस लिये व्यवहार रत्नत्रय को धारण करते हुए, उसके द्वारा निश्चय मोक्ष मार्ग की प्राप्ति का उद्योग करना चाहिये। तब ही व्यवहार मोक्ष मार्ग का साधन करना कार्यकारी और सफलीभूत होगा।

किसी भी कार्य में सफलता प्राप्त करने के लिये इन तीन बातों की आवश्यकता होती है। श्रद्धा, ज्ञान, और क्रिया। इसी को जैन शास्त्रों में क्रमशः सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यग्चारित्र, लिखा है। 'श्रद्धा' का अर्थ 'विवेक पूर्वक दृढ़ विश्वास' है, उसका यथार्थ ज्ञान होना, और तदनुसार आचरण (क्रिया) करना चारित्र है। प्रत्येक विपत्ति से छूटने के लिये, अथवा किसी भी कार्य को सफलता पूर्वक सम्पादन एवं पूर्ण करने के लिये, इन तीनों ही की आवश्यकता है। जिस प्रकार कोई रोगी मनुष्य रोग से मुक्त होना चाहता है, तो उसको सब से प्रथम 'मैं रोगी हूँ' और 'इस रोग का नाश किया जा सकता है' यह विश्वास होना चाहिये। इसके बाद निदान, और चिकित्सा (इलाज) सम्बन्धी ज्ञान होना चाहिये। परन्तु इतने मात्र से ही उसकी बीमारी दूर नहीं हो जायगी। उसको इस विश्वास और ज्ञान के बाद आचरण करना चाहिये। अर्थात् नियमानुसार उसको पथ्य से रहते हुए दवा सेवन करना उचित है, तब बीमारी दूर होगी। इन तीनों में से एक की भी कमी होगी, तो वह स्वस्थ न हो पायगा। यदि यह तीनों उल्टे हो जायँ, तो बीमारी दूर होने के बजाय बढ़ भी सकती है। इस लिये इन तीनों का सम्यक् (यथार्थ) होना अति आवश्यक है।

यहां पर हमें आत्मा को संसार रूपी रोग से मुक्त करने के विषय में विचार करना है। अतएव ये तीनों आत्मा पर ही घटित

करना चाहिए। आत्मा को रोगी, और कर्मबन्ध (जो अनादि काल से आत्मा में होता आरहा है) को रोग, मान लेना चाहिये। सब से प्रथम कर्मबन्ध और उसके कारणों का विश्वास हो, फिर उन्हीं का विवेक पूर्वक ज्ञान होना आवश्यक है। पश्चात् जिन २ क्रियाओं से कर्मबन्धन का रोग दूर हो सकता है, उन सब क्रियाओं (उपायों) को अमल (आचरण) में लाना चाहिये। और जिन २ कारणों से कर्मबन्ध होता है, उन २ कारणों से अलग रहना चाहिये। इस प्रकार तीनों का भले प्रकार उपयोग होने से आत्मा का अनादि कालीन कर्मबन्ध का भयंकर रोग भी दूर हो सकता है। यदि एक की भी तीनों में से कमी (त्रुटि) होगी, अथवा ये विपरीत होंगे, तो इस कार्य में सफलता प्राप्त होना असंभव है। इन तीनों की एकता ही मोक्ष का उपाय है। मुक्ति आत्मा की करना है, इस लिये ये तीनों बातें आत्मा के विषय में होनी चाहियें। आत्म स्वरूप का विश्वास, उसी का यथार्थ ज्ञान, और अपने ही आत्मा में आत्मस्थ हो जाना चाहिये। जब तक ये तीनों बातें आत्मा में न होंगी, तब तक मोक्ष प्राप्त न हो सकेगी। अतएव निश्चय रत्नत्रय की एकता साक्षात मोक्ष का कारण है। यदि कोई शुद्धोपयोगी मुनि, अन्तर्मुहूर्त मात्र उपयोग की एकाग्रता पूर्वक रत्नत्रय ‡ की एकाग्रता में लीन होकर ध्यानस्थ हो जावे, तो अन्तर्मुहूर्त में ही चार घातिया (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय) कर्मों को नाश करके केवलज्ञान प्राप्त कर सकता है।

---

‡ रत्नत्रय को अंग्रेजी भाषा में क्रमशः बिलीफ (True Belief) श्रद्धान, नोलेज (True knowledge) ज्ञान, कण्डक्ट (True Conduct) चारित्र कहते हैं।

शुद्धोपयोग का प्रारम्भ चतुर्थ गुण† स्थान में ही हो जाता है, पश्चात् वह धीरे २ क्रमशः बढ़ता हुवा, सातवें गुणस्थान से ऊपर पहुँच कर इतना दृढ़ हो जाता है, कि उसमें फिर इतनी एकाग्रता और निश्चलता आ जाती है, कि ध्यान, ध्याता, ध्येय और ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय का भी विकल्प नहीं रहता है। इसी दशा को आत्मा की 'निर्विकल्प दशा' कहते हैं। इस अवस्था में आत्मा ही सम्यग्दर्शन, आत्मा ही सम्यग्ज्ञान, और आत्मा ही सम्यग्चारित्र, होता है। इस प्रकार की अभेद दशा ही साक्षात् मोक्ष का कारण होती है, और इसी को रत्नत्रय की एकता कहते हैं। ऐसी अवस्था अन्तर्मुहूर्त से अधिक नहीं ठहरती। और अन्तर्मुहूर्त में उनका (आत्मा का) कार्य सिद्ध हो जाता है। इस शुद्धोपयोग की वास्तविक दशा का वर्णन वचनातीत है। उसका वास्तविक आनन्द, और यथार्थ ज्ञान, स्वयं शुद्धोपयोगी को ही होता है। आत्मा के साथ अनादि काल से लगे हुये कर्म शत्रुओं को नष्ट करने के लिये शुद्धोपयोग ही समर्थ होता है।

जब तक यह तीनों (सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र) पृथक् २ रहते हैं, तब तक ये साक्षात् रूपेण मोक्ष के कारण नहीं होते। तीनों मिल कर ही 'मोक्ष मार्ग' नाम पाते हैं। इस विषय पर एक अंधे और लंगड़े का उदाहरण अच्छा दिया गया है। एक

† सम्यक्त्व, चारित्र, और योग इनकी अपेक्षा से आत्मा के गुणों के जो स्थान हों, उनको गुणस्थान कहते हैं। उनके चौदह भेद हैं-- मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरत, सम्यग्दृष्टि, देश विरत, प्रमत्त विरत, अप्रमत्त विरत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्म सांपराय, उपशान्त मोह, क्षीण मोह, संयोग केवली, अयोग केवली। इन चौदह गुणस्थानों का वर्णन आठवें अध्याय में किया जायेगा।

अंधा, और एक लंगड़ा, इस प्रकार दो मनुष्य किसी बन में रहते थे। कारणवश उस बन में आग लग गई। आग चारों तरफ फैलती जाती थी, उनके बचने का कोई साधन नहीं था। लंगड़ा यद्यपि मार्ग को जानता (सम्यग्ज्ञान) भी था, और उसको यह भी विश्वास (सम्यग्दर्शन) था, कि मैं इस मार्ग से जाकर आग से बच सकता हूँ, किन्तु बेचारा चल नहीं सकता था, असमर्थ था। उधर वह अन्धा न तो मार्ग को जानता था, और न उसको मार्ग का विश्वास ही था, किन्तु चल सकता था। यही कारण है, कि वह इधर उधर भागा भागा फिरता था, परन्तु यथार्थ मार्ग उसको नहीं मिलता था। अतएव वह भी आग से नहीं बच सकता† था। अन्त में दोनों ने सम्मति करके आग से बचने का उद्यम किया। अन्धे की पीठ पर लंगड़ा बैठ गया। और लंगड़ा आदमी, अंधे को मार्ग बतलाने लगा। पश्चात् वे दोनों ही ठीक रास्ते पर चल कर आग से बच कर भाग गये। और वे ‡ निरापद स्थान में जा पहुँचे। यदि वे दोनों पृथक् २ रहते, तो कभी और किसी प्रकार भी आग से नहीं बच सकते थे। इसी प्रकार रत्नत्रय भी पृथक् २ रह कर संसार की वेदना का अन्त नहीं कर सकता। चारित्र के बिना सम्यग्दर्शन, और ज्ञान, का फल नहीं मिल सकता। जिस का विश्वास और ज्ञान प्राप्त किया है, उसको आचरण (अमल)

---

† हतं ज्ञानं क्रिया हीनं हता चाज्ञानिनां क्रिया।
धावन् किलान्धको दग्धः पश्यन्नपि च पंगुलः ॥१॥
अन्धश्च पंगुश्च वने प्रवृत्ता तौ संप्रयुक्तौ नगरं प्रविष्टौ ॥

‡ संजोग मेवेत्ति वदंति तण्णा णेवेक्क चक्केण रहो पयादि।
अन्धो य पंगू य वणं पविट्ठा ते संपजुत्ता नयरं पविट्ठा ॥
"गोमटसार कर्मकाण्डे" ८६२

में लाये बिना, श्रद्धान, और ज्ञान, निष्फल समझना चाहिये। श्रद्धान और ज्ञान के अभाव में चारित्र मिथ्याचारित्र होता है। विपरीत आचरण से रोग नाश होने के बजाय बढ़ जाया करता है। लगाने की दवा यदि पी ली जाय, तो तत्काल मृत्यु भी प्राप्त हो सकती है, और पीने की दवा लगा ली जाय, तो कोई लाभ नहीं, प्रत्युत हानि हो सकती है। अतएव सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यग्चारित्र, तीनों ही मिलकर मोक्ष के मार्ग होते हैं। इनके विपरीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, और मिथ्याचारित्र, संसार के मार्ग हैं।

"रत्नत्रय" में सम्यग्दर्शन मुख्य समझना चाहिये। सम्यग्-दर्शन के हो जाने पर ज्ञान सम्यग्ज्ञान, और चारित्र सम्यग्चारित्र, नाम पाते हैं। श्रद्धान जब प्रगट होता है, तभी ज्ञान की मलिनता दूर हो जाती है, और ज्ञान शुद्ध एवं निर्मल हो जाता है। साथ ही आत्मा में वीतरागता बढ़ाने वाला चारित्र गुण भी प्रगट हो जाता है। चारित्र आत्म स्वरूप के अनुभव कराने में लगता है। अर्थात् आत्मानुभव करने में प्रवृत्ति होने को ही वास्तव में 'चारित्र' कहते हैं। इस प्रवृत्ति का आत्मा में लगना, और इन्द्रिय-विषयों से हटना, ये दो कार्य चारित्र से होते हैं, इसीको 'निश्चय' और 'व्यवहार चारित्र' कहते हैं। सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र, ये तीनों ही शुद्धात्मा के अविनाभावी † गुण हैं। सम्यग्दर्शन के होने पर सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र भी नियम से किसी न किसी रूप में उत्पन्न हो ही जाते हैं। परन्तु फिर भी पूर्व गुण के प्रगट होने पर, उत्तर गुणों की आराधना करनी चाहिये। क्योंकि क्षायिक

---

† रयणत्तयं ण वट्टइ अप्पाणं मुयत्तु अण्ण दवियम्हि।
तम्हा तत्तिय मइयो तह्हीए सदा होइ॥ "द्रव्यसंग्रहे"

सम्यक्त्व, ज्ञान और चारित्र क्रम से ही प्रगट होते हैं। क्षायिक सम्यग्दर्शन चौथे से लेकर सातवें गुणस्थान तक किसी भी गुण-स्थान में पूर्ण हो जाता है। क्षायिक सम्यग्ज्ञान तेहरवें गुणस्थान में ही ज्ञानावरण कर्म के सर्वथा क्षय हो जाने पर प्रगट होता है। क्षायिक सम्यग्चारित्र चौदहवें गुणस्थान के अन्त में ही चारित्र मोहनीय और योगों के सर्वथा नष्ट होने पर प्रगट होता है। अतएव इन क्षायिक ‡ गुणों की पूर्णता की अपेक्षा पूर्व गुण के होने पर, उत्तर गुण आराधनीय, और उत्तर गुण के हो जाने पर, पूर्व गुण की प्रकटता, नियम से समझना चाहिये।

सम्यग्दर्शन होने से पहिले भी श्रद्धान, ज्ञान, और चारित्र होते हैं। किन्तु श्रद्धान मिथ्या श्रद्धान, ज्ञान मिथ्या ज्ञान, चारित्र मिथ्या चारित्र, कहलाता है। सम्यग्दर्शन के उत्पन्न होते ही इन तीनों की कायापलट हो जाती है। और तीनों ही बदल कर 'मिथ्या' से 'सम्यक्' हो जाते हैं। मिथ्या से सम्यक् रूप करने में सम्यग्दर्शन ही कारण होता है। अतएव उस सम्यग्दर्शन के प्राप्त करने का उद्यम करना चाहिये।

यदि यहां पर सूक्ष्म रीति से विचार किया जाय तो, जीव का शुद्ध स्वरूप ज्ञान है। अथवा जीव शुद्ध ज्ञान स्वरूप है। उस ज्ञान में जितनी मलिनता हो, वही और उतना ही संसार है। और वह मलिनता नष्ट हो जाय, इसी का नाम 'मोक्ष' है। ज्ञान में ही सभी गुण अन्तर्भूत हैं। अथवा ज्ञान की सत्ता के आधीन ही उनकी सत्ता है। चारित्र, सुख, वीर्यादि गुणों को ज्ञान के ही

‡ जो प्रतिपक्षी (विरोधी) कर्म का सर्वथा क्षय होने पर आत्मा का स्वभाव रूप गुण प्रगट होता है। उसको क्षायिक भाव अथवा गुण कहते हैं।

रूपान्तर † समझना चाहिये। वस्तुतः ज्ञान की पूर्ण निर्मलता ही मोक्ष है।

अब मोक्ष के मार्ग स्वरूप रत्नत्रय में से क्रमानुसार पहले सम्यग्दर्शन का स्वरूप वर्णन करने के लिये सूत्र कहते हैं:—

तत्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ॥ २ ॥

सूत्रार्थः—(तत्वार्थ श्रद्धानं) तत्व, अर्थात् वस्तु के स्वरूप सहित, अर्थ-अर्थात् पदार्थों का-सात तत्वों का-श्रद्धान करना **(सम्यग्दर्शनं)** सम्यग्दर्शन है।

विशेषार्थ:—यहां पर 'दर्शन' शब्द का 'देखना' अर्थ नहीं लेना चाहिये, प्रत्युत उसका रूढ़ि अर्थ 'श्रद्धान' करना चाहिये। क्योंकि यहां पर मोक्ष मार्ग का प्रकरण (विषय) है। इस लिये जो तत्व (पदार्थ) मोक्ष प्राप्त करने में प्रयोजन भूत (मतलब के) हों, उनका ठीक जैसा का तैसा श्रद्धान करना **सम्यग्दर्शन** है। व्यवहार दृष्टि से जीव अजीवादि तत्वों के एवं देव, शास्त्र, गुरु, के सत्य श्रद्धान को **सम्यग्दर्शन** कहा है। और निश्चय दृष्टि से शुद्ध आत्म स्वरूप के सत्य श्रद्धान को **सम्यग्दर्शन** कहते हैं। इसका दूसरा नाम आत्म-दर्शन भी हो सकता है। सम्यग्दर्शन का घात (रोकने) करने वाला

---

† यही कारण है, कि ज्ञान के सिवाय अन्य सभी गुणों को निर्विकल्प (निराकार) कहा गया है। यथा—

ज्ञानाद्विना गुणाः सर्वे प्रोक्ताः सल्लक्षणांकिताः।
सामान्याद्वा विशेषाद्वा सत्यं नाकारमात्रकाः ॥

पंचाध्यायी ॥३६५॥

अर्थात्—ज्ञान के सिवाय सभी गुण अपनी २ मात्र सत्ता रखते हैं। ज्ञान ही एक ऐसा गुण है। जो अपनी सत्ता से अपना, और दूसरों का बोध कराता है। इसलिये यही साकार है। अन्य सभी गुण निराकार हैं।

दर्शन मोहनीय कर्म है । अर्थात् दर्शन मोह के उदय में सम्यग्दर्शन उत्पन्न नहीं होता । इस लिये दर्शन मोह के उपशम, क्षयोपशम, और क्षय, की अपेक्षा से सम्यग्दर्शन भी तीन प्रकार का होता है । जिस को क्रमशः उपशम सम्यक्त्व, क्षयोपशम सम्यक्त्व, और क्षायिक सम्यक्त्व कहते हैं । अनादि (जिसको कभी सम्यक्त्व नहीं हुआ) मिथ्या दृष्टि पांच प्रकृतियों (दर्शनमोह, और अनन्तानुबन्धी की चौकड़ी) के उपशम करने से उपशम सम्यक्त्व ही प्राप्त करता है । इसके बाकी के क्षयोपशम, और क्षायिक सम्यक्त्व नहीं होते । और सादि मिथ्या दृष्टि (जिसको पहले कभी सम्यक्त्व हो चुका हो, और फिर छूट गया हो) उपर्युक्त पांच या सात (दर्शनमोह के तीन खण्ड, मिथ्यात्व, सम्यङ् मिथ्यात्व, सम्यक्त्व प्रकृति, की अपेक्षा) प्रकृतियों के उपशम से उपशम सम्यक्त्व, और क्षयोपशम से क्षयोपशम सम्यक्त्व, और क्षय से क्षायिक सम्यक्त्व, प्राप्त करता है ।

बीमारी के दूर होने की तीन हालतें होती हैं । एक बीमारी का प्रगट रूप से हट जाना, परन्तु बीमारी के कारणों का शरीर में मौजूद रहना जैसे बुखार उतर गया है, परन्तु बुखार का कारण नहीं हटा, इस कारण बुखार फिर चढ़ेगा। इसको उपशम समझना चाहिये । दूसरे बीमारी का कुछ कम हो जाना, और उसके कारणों का कुछ नष्ट हो जाना, कुछ मौजूद रहना । इसको क्षयोपशम कहते हैं । तीसरे बीमारी के कारणों का बिल्कुल समूल दूर हो जाना, यह क्षय कहा जाता है । इसी प्रकार मिथ्यात्व भी एक प्रकार की बीमारी इस आत्मा के साथ अनादि काल से लगी हुई है । जिस का दूर होना ही सम्यग्दर्शन कहलाता है । मिथ्यात्व के दब जाने से उपशम सम्यग्दर्शन, मिथ्यात्व के समूल नष्ट होजाने से क्षायिक

सम्यग्दर्शन, मिथ्यात्व के कुछ अंश का नष्ट हो जाना, और कुछ अंश का मौजूद रहना, एवं कुछ अंश के उदय रहने से क्षयोपशम सम्यग्दर्शन होता है। अब तीनों प्रकार के सम्यग्दर्शनों का सैद्धान्तिक विवेचन करते हैं:—

दर्शन मोह कर्म के मिथ्यात्व, मिश्र, और सम्यक्त्व प्रकृति ये तीन ही भेद हैं, परन्तु अनन्तानुबन्धी कषाय की चौकड़ी भी सम्यग्दर्शन गुण को विपरीत (मिथ्यात्व रूप में) करती है। इस लिये इसको भी सम्यग्दर्शन का घातक कहते हैं। अतएव तीन दर्शनमोह की, और चार अनन्तानुबन्धी कषाय, इस प्रकार सात प्रकृतियों के सर्वथा क्षीण हो जाने से सम्यग्दर्शन गुण को जो अत्यन्त निर्मल अवस्था होती है, उस को 'क्षायिक सम्यग्दर्शन' कहते हैं। इसके प्रतिपक्षी कर्म का एक देश भी बाकी नहीं रहा है। इसी लिये यह दूसरे सम्यक्त्वों की तरह सान्त (अन्त सहित) नहीं है, तथा इसके होने पर असंख्यात गुणी कर्मों की निर्जरा होती है। इसके होजाने पर यातो उस ही भव में जीव मुक्ति प्राप्त कर लेता है, और यदि देवायु का, अथवा सम्यक्त्व होने से प्रथम नरकायु का, बन्ध होगया हो, तो तीसरे भव में, अथवा सम्यग्दर्शन होने से पहले मिथ्यात्व दशा में मनुष्य, तिर्यंच आयु का बंध हो गया हो, तो चौथे भव में सिद्ध पद प्राप्त कर लेता है। किन्तु चतुर्थ भव से अधिक संसार में भ्रमण नहीं करता। यह सम्यक्त्व इतना मजबूत होता है, कि तर्क और आगम से विरुद्ध श्रद्धान को भ्रष्ट करनेवाले वचन, या हेतु, उसको भ्रष्ट नहीं कर सकते। यदि तीन लोक भी उपस्थित होकर कदाचित् उसको अपने श्रद्धान से गिराना चाहें तो गिरा नहीं सकते। क्षायिक सम्यक्त्व का प्रारम्भ केवली या श्रुत-केवली के निकट ही होता है। यदि कदाचित् सम्यक्त्व पूर्ण होने

से प्रथम ही मरण हो जाय तो, उसकी पूर्णता चारों गतियों में से किसी भी गति में हो सकती है। क्षायिक सम्यक्त्व का प्रारम्भ कर्म भूमि का उत्पन्न हुआ मनुष्य ही करता है। यह सम्यक्त्व-सादि अनन्त होता है। अर्थात् एक वार उत्पन्न हो जाने पर फिर कभी छूटता नहीं है। अनन्त काल तक स्थिर रहता है।

मिथ्यात्व, मिश्र, और अनन्तानुवन्धी कषाय की चौकड़ी इस प्रकार सर्व घाति छह† प्रकृतियों के सर्वथा क्षय, अथवा उदयभावी क्षय, और उपशम, हो चुकने पर, किन्तु शेष सम्यक्त्व प्रकृति के उदय होते हुए पदार्थों का जो श्रद्धान होता है, उसको ‡ क्षयोपशम

† इस क्षयोपशम सम्यक्त्व को वेदक सम्यक्त्व भी कहते हैं। इसके कई भेद हैं—एक तो यह है, कि चार अनन्तानुवन्धी कषाय व मिथ्यात्व तथा मिश्र इन छः प्रकृतियों का उपशम हो, और सम्यक्त्व प्रकृति का उदय हो। दूसरा यह है, कि अनन्तानुवन्धी कषाय का अन्य कषाय रूप परिणमन होकर विसंयोजन हो गया हो, अर्थात् क्षय हो गया हो। और मिथ्यात्व व मिश्र का उपशम हो, एवं सम्यक्त्व प्रकृति का उदय हो। तीसरा यह है, कि चार अनन्तानुवन्धी कषायके साथ मिथ्यात्व का भी क्षय हो, व मिश्र का उपशम, तथा सम्यक्त्व प्रकृति का उदय हो। चौथा यह है, कि चार अनन्तानुवन्धी के साथ मिथ्यात्व व मिश्र का भी क्षय हो, मात्र एक सम्यक्त्व प्रकृति का उदय हो। सम्यक्त्व प्रकृति को, अर्थात् कुछ मलिन सम्यक्त्व भाव को, यह वेदक सम्यग्दृष्टि अनुभव करता है। इस लिये इसको वेदक सम्यक्त्व कहते हैं। देशघाति सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से वेदक सम्यक्त्व होता है। यह सम्यक्त्व चंचल, मलिन, और अगाढ़ होता है, तथापि कर्मों के क्षय का कारण है।

‡ क्षयोपशम सम्यक्त्व में सर्वघाति प्रकृतियों के आगामि निषेकों का सदवस्था रूप उपशम, और वर्तमान निषेकों का उदयाभावी क्षय अर्थात् बिना ही फल दिये निर्जरा होती है।

सम्यक्त्व कहते हैं। इसमें सम्यक्त्व प्रकृति के उदय होने से चल मल अगाढ़ ये तीन दोष उत्पन्न होते हैं। इनका स्वरूप इस प्रकार है—

जिस प्रकार एक ही जल अनेक कल्लोल (तरंग) रूप में परिणत होता है, उसी प्रकार जो सम्यग्दर्शन सम्पूर्ण तीर्थंकर अथवा अर्हन्तों में समान रूप से अनन्त शक्ति के होने पर भी श्री शांतिनाथजी शान्ति के लिये, और श्री पार्श्वनाथजी रक्षा करने के लिये समर्थ हैं, इस तरह नाना विषयों में चलायमान होता है, उसको 'चल सम्यग्दर्शन' दोष कहते हैं। जिस प्रकार शुद्ध सुवर्ण भी मल के निमित्त से मलिन कहा जाता है। उसी तरह सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से जिसमें पूर्ण निर्मलता नहीं है, उसको 'मल-सम्यग्दर्शन' कहते हैं। और जिस तरह वृद्ध पुरुष के हाथ में ठहरी हुई भी लाठी कांपती है, उसी प्रकार जिस सम्यग्दर्शन के होते हुए भी अपने बनवाये हुये मन्दिर आदि में 'यह मेरा मन्दिर है' और दूसरे के बनवाये हुये मन्दिर आदि में 'यह दूसरे का है' ऐसा भ्रम हो' उसको 'अगाढ़ सम्यग्दर्शन' कहते हैं। इस तरह परिणामों में चल, मल, अगाढ़, के होते हुये भी ‡ क्षयोपशम सम्यग्दर्शन जघन्य अन्तर्मुहूर्त से लेकर उत्कृष्ट छ्यासठ सागर पर्यन्त नित्य ही कर्मों की निर्जरा का कारण जानना चाहिये।

उपर्युक्त सम्यक्त्व विरोधनी सात प्रकृतियों के उपशम से जो

---

‡ यद्यपि सम्यक्त्व प्रकृति के उदय में क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। इसलिये वह भी सम्यक्त्व की उत्पत्ति में कारण होनो चाहिये ? परन्तु वास्तव में तो जितने अंश में सम्यक्त्व प्रकृति का उदय है, उतने अंश में वह सम्यग्दर्शन गुण का घातक ही है।

पदार्थों का श्रद्धान होता है, उसको 'उपशम सम्यक्त्व'‡ कहते हैं। यह सम्यक्त्व इस तरह का मिर्मल होता है, जैसा कि निर्मली आदि पदार्थों के निमित्त से कीचड़ आदि मल के नीचे बैठ जाने पर जल निर्मल होता है। उपशम सम्यक्त्व और क्षायिक सम्यक्त्व निर्मलता की अपेक्षा समान है। क्योंकि प्रतिपक्षी कर्मों का उदय दोनों ही में नहीं है। किन्तु विशेषता इतनी है, कि क्षायिक सम्यक्त्व में प्रतिपक्षी कर्म का सर्वथा अभाव हो गया है, और उपशम-सम्यक्त्व में प्रतिपक्षी कर्मों की सत्ता है। जैसे—किसी जल में निर्मली (फिटकड़ी) आदि के द्वारा ऊपर से निर्मलता होने पर भी नीचे कीचड़ जमी रहती है, और किसी जलके नीचे कीचड़ रहती ही नहीं है। ये दोनों ही जल ऊपरी निर्मलता की अपेक्षा समान हैं। अन्तर केवल यही है कि एक के नीचे कीचड़ है, दूसरेके नीचे कीचड़ नहीं है। इसके प्रथमोपशम, और द्वितीयोपशम, दो भेद

‡ इस उपशम सम्यक्त्व में चारित्र मोहनीय कर्म की अपेक्षा क्षयोपशम भाव भी होता है। क्योंकि अनन्तानुबन्धी का उपशम अथवा उदयाभावी क्षय है। तथा अन्य कषायों का उदय भी हो रहा है। तथापि सम्यक्त्व भाव निर्मल है। प्रथमोपशम सम्यक्त्व सातवें गुणस्थान तक होता है। फिर श्रेणी चढ़ते हुए इसी को श्रेणी पर द्वितियोपशम सम्यक्त्व कहते हैं। इसकी भी स्थिति अन्तर्मुहूर्त मात्र है। फिर बदल कर वेदक (क्षयोपशम) सम्यक्त्व हो जाता है। अथवा मिथ्यात्व का उदय यदि हो जाय, तो नीची श्रेणी में भी आ सकता है। यह उपशमसम्यग्दृष्टि अन्याय पूर्वक विषयों से व कषाय भावों से उदासीन हो जाता है इसके संसारासक्त भाव तथा मिथ्यात्व नहीं रहता। अतएव निर्मलता की दृष्टि से क्षायिक सम्यक्त्व के सदृश होता है। किन्तु स्थिति अन्तर्मुहूर्तमात्र होती है।

हैं, जिनका वर्णन दूसरे अध्याय में किया जायगा। इस उपशम सम्यक्त्व से न तो मुक्ति प्राप्त हो सकती है, और न क्षायिक सम्यक्त्व ही होता है। उपशम सम्यक्त्व तो मिथ्यात्व के दबने से हुआ है, मिथ्यात्व अभी सत्ता में मौजूद है। इस कारण वह मिथ्यात्व उभर कर अवश्य उपशम सम्यक्त्व को बिगाड़ता है। उपशम सम्यक्त्व की स्थिति मात्र अन्तर्मुहूर्त है। इसके पश्चात् या तो मिथ्यात्वी होता है, अथवा उसको क्षयोपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है। उपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति चारों गतियों में से किसी भी गति में रहने वाले जीव के चार प्रकार की आयु में से किसी भी आयु का बन्ध होने पर भी हो सकती है। इसमें कोई बाधा नहीं है। किन्तु सम्यक्त्व ग्रहण होने के बाद अणुव्रत या महाव्रत उसी जीवके हो सकते हैं, जिसके चार आयु कर्मों में से केवल देव आयु का बन्ध हुआ हो, अथवा किसी भी आयु का बन्ध न हुआ हो। नरकायुतिर्यगायु मनुष्यायु का बन्ध करने वाले सम्यग्दृष्टि के अणुव्रत या महाव्रत नहीं होते। सम्यक्त्व ग्रहण करने वाला जीव भव्य, सैनी, पर्याप्त, शुभ लेश्या का धारक, और करण लब्धि, के परिणामों को धारण करने वाला होना आवश्यक है।

सम्यक्त्व का प्रतिपक्षी मिथ्यात्व कर्म है। दर्शन मोह के उदय से दो प्रकार के मिथ्यात्व परिणाम होते हैं। एक गृहीत मिथ्यात्व, दूसरे अग्रहीत मिथ्यात्व परिणाम। जो कुगुरुओं के उपदेश से विपरीत श्रद्धान होता है, उसको 'ग्रहीत मिथ्यात्व' कहा जाता है। और जो बिना ही उपदेश के विपरीत श्रद्धान होता है, उसको 'अग्रहीत मिथ्यात्व' समझना चाहिये। दोनों ही प्रकार के परिणामों को 'मिथ्यात्व' शब्द से कहते हैं। यह मिथ्यात्व पांच प्रकार का होता है। एकान्त, विपरीत, विनय, संशय, और अज्ञान,

अनेक धर्मात्मक पदार्थ को किसी एक धर्मात्मक मानना इसको 'एकान्त मिथ्यात्व' कहते हैं। जैसे वस्तु सर्वथा क्षणिक ही है, अथवा नित्य ही है, वक्तव्य ही है, अवक्तव्य ही है, इत्यादि। धर्मादिक के स्वरूप को विपरीत रूप मानना। जैसे—हिंसा से स्वर्गादिक की प्राप्ति होती है। इसको 'विपरीत मिथ्यात्व' कहते हैं।

सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि, देव, गुरु, तथा उनके कहे हुये शास्त्रों में समान बुद्धि रखना। जैसे-जिनेन्द्र भगवान, और बुद्ध, तथा उनके धर्मको समान समझना, इसको 'विनय मिथ्यात्व' कहते हैं। सत्य तथा असत्य दोनों प्रकार के पदार्थों में से किसी भी एक का निश्चय न हो, जैसे रत्नत्रय मोक्ष का मार्ग है, अथवा योगादि कर्म। कर्मों के सर्वथा अभाव से आत्मा की शुद्ध अवस्था विशेष को 'मोक्ष' कहते हैं, या बुद्धि आदि विशेष गुणों के अभावको मोक्ष कहते हैं। इसको 'संशय मिथ्यात्व' कहते हैं। जीवादि पदार्थों को 'यही है' 'इसी प्रकार है' इस प्रकार विशेष रूप से न समझने को 'अज्ञान मिथ्यात्व' कहते हैं। इस प्रकार सामान्य से मिथ्यात्व के ये पांच भेद हैं। विस्तार से मिथ्यात्व के असंख्यात लोक प्रमाण तक भेद हो सकते हैं। मिथ्यात्व प्रकृति के उदयसे जो जीव देव, गुरु, शास्त्र, और जीवादिक योजनीय तत्वों, के यथार्थ स्वरूप का श्रद्धान न करके विपरीत श्रद्धान करता, उसको 'मिथ्यादृष्टि' कहते हैं। मिथ्यादृष्टि जीव को यथार्थ धर्मका स्वरूप अच्छा नहीं मालूम होता। जैसे पित्त ज्वर के रोगी को मीठा रस भी अच्छा नहीं लगता। मिथ्यादृष्टि जीव समीचीन गुरुओं के पूर्वापर विरोध रहित और हितकारी वचनों पर यथार्थ श्रद्धान नहीं करता। किन्तु पूर्वापर विरोध सहित एवं अहितकारी वचनों का श्रद्धान करता है। यही कारण है, कि मिथ्यादृष्टि को मोक्षमार्ग का यथार्थ श्रद्धान

न होने से यथार्थ मोक्षमार्ग की प्राप्ति नहीं होती । अतएव वह संसार में भ्रमण करता रहता है । वास्तव में इस जीव को संसार में अनादि काल से भ्रमण कराने में मिथ्यात्व ही कारण है। मिथ्यात्व के त्याग किये बिना इसको 'यथार्थ मोक्षमार्ग' की प्राप्ति नहीं हो सकती । अतएव जो जीव संसार परिभ्रमण से छूटने के लिये उद्यत हों, उनका सबसे प्रथम कर्तव्य यह है, कि मिथ्यात्व का त्याग करके सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने का उद्योग करना चाहिये ।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति एक साथ ही होती है इसको इस तरह भी कह सकते हैं, कि सम्यग्दर्शन होनेसे पूर्व जो ज्ञान होता है, वही सम्यग्दर्शन के उत्पन्न होने पर सम्यग्ज्ञान बन जाता है । इस दृष्टि से किसी प्राणी का ज्ञान कितना ही विशाल क्यों न हो, परन्तु सम्यग्दर्शन के अभाव में उसको सम्यग्ज्ञान नहीं कहा जा सकता है । और यदि सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाय, तो अति अल्प ज्ञानभी 'सम्यग्ज्ञान' कहलायगा । इससे हम सम्यग्दर्शन के स्वरूप और उसके महत्वको भले प्रकार समझ सकते हैं । सम्यग्दर्शन ही आत्म कल्याणका बीजभूत कारण है । इसके प्राप्त किये बिना सब जप, तप, ज्ञान, क्रिया, आदि कार्य निष्फल हैं । सम्यग्दर्शन को 'आत्मज्ञान' भी कहते हैं । आत्म ज्ञानी जीव जितने कर्मोंकी निर्जरा क्षणमात्र में कर देता है, अज्ञानी उतने कर्मों की निर्जरा करोड़ों जन्मोंमें भी नहीं कर पाता है । अतएव इस आत्म ज्ञान रूपी रसायनको जिस तरह बन सके, प्राप्त करने की चेष्टा करना चाहिये ।

आत्मज्ञानी मनुष्य संसार को एक प्रकार का नाटक समझता है, वह संसार में रहते हुये भी संसार से पृथक् रहता है, इसका कारण यह है, कि उसको वस्तु स्वरूपका यथार्थ ज्ञान होता है, अतएव उसका जीवन संसार के झगड़ों से अलिप्त रहता हुआ, भी विश्व-

प्रेममय और सहनशील होता है। वह कर्तव्य तत्परताके साथ जीवन को अनित्य, और क्षणभंगुर समझता है। इसलिये न तो वह इष्ट वियोग से डरता है, और न अनिष्ट संयोग से ही घबड़ाता है। वह कर्तव्य बुद्धि से संसार के प्रत्येक कार्य को करता हुआ भी सांसारिक कार्यों में हर्ष विषाद नहीं करता। वह पापी से घृणा न करता हुआ भी पापसे ग्लानि करता है। सम्यग्दृष्टि व्यवहार को छोड़ नहीं देता, बल्कि वह तो गृहस्थ में रह कर सन्तान उत्पन्न करता है, और स्त्री पुत्रादि सम्बन्धियों का रक्षण भी करता है। आजीविका सम्बन्धी उपायों को भी करता है। परन्तु अन्तर इतना ही है, कि मिथ्यादृष्टि जिस काम को 'मोह के वश होकर करता है', और यही कारण है, कि मिथ्यादृष्टिको संसार की बातों में अधिक हर्ष विषाद होता है। सम्यग्दृष्टि उसी कार्य को कर्तव्य समझ कर करता है। मोही मनुष्य दूसरोंको स्वार्थ में आकर धोखा देता है, परन्तु कर्तव्य शील सम्यग्दृष्टि पुरुष, निस्वार्थ भाव से कार्य करने के कारण धोखा नहीं दे सकता। मिथ्यादृष्टि मनुष्य स्वार्थी और अविवेकी होता है। स्वार्थ के कारण वह कर्तव्य को भूल जाता है, किन्तु सम्यग्दृष्टि विवेकपूर्वक, और निस्वार्थ भावसे काम करता है, अतएव वह कर्तव्यको भूलता नहीं है। यही कारण है, कि मिथ्या दृष्टि की अपेक्षा सम्यग्दृष्टि अधिक विश्वासपात्र होता है। उसका हृदय विशाल और उदार होता है, विश्व प्रेम उसके हृदय में कूट कूट कर भरा हुवा होता है। वह किसी प्राणी को अपने स्वार्थ के लिये अहित और कष्ट नहीं पहुँचाता। सम्यग्दृष्टि गृहस्थ सांसारिक कार्यों को करता नहीं है, किन्तु उसको करने पड़ते हैं। वह भोजन के लिये नहीं जीता, किन्तु उसको जीने के लिये भोजन करना पड़ता है। जबकि मिथ्यादृष्टि संसार के कार्यों को करता है,

और उनमें लिप्त हो जाता है । इसी लिये सम्यग्दृष्टि संसार के कामों को करता हुवा राग द्वेष न होने के कारण, अति अल्प कर्मों का बन्ध करता है । और उस के विपरीत मिथ्यादृष्टि, राग द्वेष के कारण अत्यधिक कर्मों को बांध लेता है । यही कारण है, कि सम्यग्दृष्टि को अबंध कहा गया है । जिस प्रकार कमल जल में रहता, बढ़ता, और उत्पन्न होता हुवा भी, जल से अलग रहता है, इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि संसार में रहता हुवा भी, और संसार के कामों को भी करता हुवा, संसार और उसके कार्यों से पृथक् रहता है ।

सम्यग्दृष्टि की प्रवृत्ति वेश्या और धाय के सदृश होती है। एक कैदी मनुष्य जेल की कोठरी में रहता हुवा, उस को साफ रखता है । और लीपता पोतता तथा बुहारता भी है । किन्तु उस कोठरी को छोड़ देने का हर समय ध्यान और विचार रखता है । इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि संसार और गृहस्थ में रहता हुवा, उसके सब कामों को करता है । परन्तु परिणाम प्रत्येक समय यही रहते हैं, कि जल्दी से जल्दी इस संसार और गृहस्थ को छोड़ कर आत्म कल्याण करूँ । जब तक चारित्र मोह का तीव्र उदय है, तब तक असमर्थता वश कर्म की परवशता से सब कुछ करता हुवा भी, मोक्ष मार्ग में स्थित रहता है । दूसरा आदमी, जो अपने निजी मकान में रहता हुवा भी, उसको न तो कभी लीपता है, न कभी उसकी सफाई करता है । बल्कि उसको अत्यधिक गंदा रखता है । परन्तु उसको विचार हर समय यही रहता है,कि 'यह मेरा मकान है', और 'मैं इसका स्वामी हूं' । इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव संसार में रह कर उसको अपना स्वरूप समझ लेता है । वह संसार के पदार्थों में इतना अधिक रागी होता है कि अल्प क्रिया करते हुए

भी अत्यधिक कर्मों को बांधता है। प्रगट रूप में सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनों की क्रिया (जहां तक क्रियाका सम्बन्ध है) समान होती है यही कारण है, कि सम्यग्दृष्टिके जो बाह्य चिन्ह बतलाये गये हैं, वे कभी २ और कहीं २ पर मिथ्यादृष्टि में भी दिखलाई पड़ते हैं। परन्तु सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनों के अन्तरंग परिणामों में,जमीन आकाश का अन्तर होता है। सम्यग्दृष्टि के बाह्य† चिन्ह प्रशम, संवेग, अनुकम्पा, और आस्तिक्य बतलाये गये हैं। परन्तु वे मिथ्यादृष्टि के भी हो सकते‡ हैं। किन्तु फिर भी यह अवश्य है कि ये चारों गुण सम्यग्दृष्टि में जिस जाति के होते हैं, उस जाति के मिथ्यादृष्टि में नहीं होते हैं। और यह भी संभव है, कि सम्यग्दृष्टि के इन चारों ही गुणों का प्रभाव उसकी बाह्य क्रियाओं पर भी अवश्य पड़ता होगा। यह दूसरी बात है, कि वह प्रभाव इतना सूक्ष्म और विलक्षण हो कि हम उसकी पहचान न कर सकें।

उपशम, क्षयोपशम, और क्षायिक, इन तीनों प्रकार के सम्यक्त्वों में से, एक समय में कोई एक प्रकार का सम्यक्त्व होता है। उपशम सम्यक्त्व की अन्तर्मुहूर्त, क्षायिक सम्यक्त्व की कुछ अधिक तेतीस सागर, और क्षायोपशामिक सम्यक्त्व की उत्कृष्ट स्थिति कुछ अधिक छयासठ सागर, प्रमाण है। इस प्रकार तीनों सम्यक्त्वों में स्थिति बन्धकृत केवल भेद है। अनुभाग बन्धकृत कोई भेद नहीं है। क्योंकि तीनों ही सम्यक्त्वों में मिथ्यात्व का उदय नहीं रहता। इसलिये रसबन्धकृत किसी प्रकार का भेद नहीं है। सराग और वीतराग के भेद से भी सम्यग्दर्शन दो प्रकार का होता है। सात

---

† प्रशम संवेग अनुकम्पास्तिक्यादि अभिव्यक्ति लक्षणम्। स. सि.

‡ इस विषय को अच्छी तरह समझने के लिये पंचाध्यायी का उत्तरार्द्ध भाग अवश्य देखना चाहिये।

या पांच प्रकृतियों के सर्वथा नाश होने पर, आत्माकी विशुद्धि†को 'वीतराग सम्यक्त्व' कहते हैं। और प्रशमादि युक्त सम्यक्त्व को 'सराग सम्यग्दर्शन' जानना चाहिये। इन दोनों में सराग के हो जाने पर वीतराग होता है। इसलिये सराग कारण और वीतराग सम्यक्त्व कार्य हैं। तथा वीतराग सम्यक्त्व स्वयं कारण भी है, और कार्य भी है। यद्यपि निश्चय सम्यक्त्व आत्मा का ऐसा निर्विकल्प और सूक्ष्म* गुण है, कि जिस को हर एक जीव प्रत्यक्ष नहीं देख सकता। परन्तु प्रशमादि गुणों से उसकी सत्ता का अनुमान अवश्य हो सकता है। क्योंकि प्रशमादि गुण सम्यग्दर्शन के उत्पन्न होने पर आत्मा में प्रगट होते हैं। वस्तुतः निश्चय सम्यक्त्व का स्वरूप ‡ वचनातीत है। यद्यपि शास्त्रों में उसके भी लक्षण लिखे हैं। परन्तु वे भी एक प्रकार से व्यवहार मात्र (कहने योग्य) हैं। अर्थात् वे बाह्य लक्षण (चिन्ह) हैं। जब निश्चय सम्यक्त्व निर्वि-

---

† आत्म विशुद्धिमात्रमितरत्। स. सि.

* सम्यक्त्वं वस्तुतः सूक्ष्म मस्ति वाचा मगोचरः।
तस्मात् वक्तुं च श्रोतुं च नाधिकारी विधिक्रमात् ॥
सम्यक्त्वं वस्तुतः सूक्ष्मं केवल ज्ञान गोचरम्।
गोचरं स्वावधि स्वान्त पर्ययोः ज्ञानयोः द्वयोः ॥
पंचाध्यायी उत्तरार्द्ध।

‡ सम्यग्दर्शन निर्विकल्प है। उसका कथन वचनों के द्वारा नहीं हो सकता है। क्योंकि जो निर्विकल्प होता है, वह वचनातीत है। अतएव उसका उल्लेख ज्ञान द्वारा किया जाता है। ज्ञान अपने स्वरूपका भी बोध कराता है, और अन्य का भी ज्ञान कराता है। इसलिये ज्ञान साकार है। अन्य गुण जब अपना ही बोध नहीं करा सकते हैं। तो अन्य का कैसे करा सकते हैं। अतएव अन्य गुण निराकार हैं।

कल्प स्वरूप है, तो फिर वह वचनों द्वारा कैसे प्रगट किया जा †सकता है। उसका वास्तविक स्वरूप (स्वाद) तो अनुभव गम्य ही है। मिश्री का वास्तविक स्वाद चखने पर ही ज्ञात होगा, न कि वचन द्वारा कहने पर। इस कथन को पंचाध्यायी के उत्तरार्द्ध भाग में अच्छी तरह प्रगट, किया गया है। अतएव उसको अवश्य देखना चाहिये। संसार में परिभ्रमण कराने वाले दुष्ट कर्मों के आक्रमण को हटाने के लिये सम्यग्दर्शन को धारण करना अत्यन्त आवश्यक है। सम्यग्दर्शन की निर्मलता और पूर्णता के लिये उसके ‡ अष्ट अंगों का भी अवश्य ध्यान रखना चाहिये। क्योंकि जिस प्रकार, अक्षर रहित मंत्र विष वेदना को दूर नहीं कर सकता है, ठीक उसी प्रकार अंगरहित सम्यग्दर्शन भी ससार के दुखों को दूर नहीं कर सकता। निर्मल सम्यग्दृष्टि की आत्मा पच्चीस दोष और सप्तभय§ वर्जित, एवं प्रशम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा, और

---

† श्रद्धानादि गुणा: वाह्यं लक्ष्य सम्यग्दगात्मनः।
न सम्यक्त्वं तदेवेति सन्ति ज्ञानस्य पर्ययाः ॥
ततो वस्तु मशक्यात्वात् निर्विकल्पस्य वस्तुतः।
तदुल्लेखं समालेख्य ज्ञान द्वारा निरूप्यते ॥
पंचाध्यायी उत्तरार्द्ध भाग ॥

‡ निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सित, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य, और प्रभावना, ये आठ अंग होते हैं। इनका वर्णन छट्टे अध्याय में किया गया है।

§ शंकादिक आठ दोष, आठ मद, तीन मूढ़ता, छह अनायतन, ये पच्चीस दोष होते हैं। इस लोक, परलोक, वेदना, अनरक्षा, अगुप्ति, मरण, और अकस्मात्, इस प्रकार ये सप्तभय होते हैं। कहीं २ पर 'अगुप्ति' के स्थान पर 'अत्राण भय' भी लिखा मिलता है।

आस्तिक्यादि* गुण सहित हो जाती है।

सम्यग्दर्शन की बड़ी महिमा है। जिसको एक बार भी सम्यक्त्व प्राप्त हो जाता है, वह नियम से मोक्ष प्राप्त कर लेता है। वस्तुतः एक मिथ्यादर्शन ही दुखदायक है। यदि कोई अज्ञानी मनुष्य अग्नि के स्वभाव को शीतल समझ कर (उसके स्वरूप का उल्टा श्रद्धान करके) उसको हाथ से पकड़ले, तो हाथ जलने से उस को अवश्य दुःख होगा। इसी प्रकार जीवादि प्रयोजनभूत तत्त्वों के उल्टे श्रद्धान से दुःख ही प्राप्त होता है। इसके विपरीत सम्यग्दर्शन को धारण करने वाला जीव मरण करके नरक, तिर्यंच गति, में जन्म नहीं लेता है। वह उत्तम मनुष्य, या उत्तम देव, ही होता है। नपुंसक और स्त्री पर्याय प्राप्त नहीं करता। अल्पायु और दरिद्री तथा नीचकुली भी नहीं होता†। परन्तु यदि सम्यग्दर्शन प्राप्त करने से पहले उसने नरक, तिर्यंच, व मनुष्य गति, सम्बन्धी आयु का बन्ध कर लिया हो, तो वह प्रथम नरक में, और भोग भूमि में जाकर मनुष्य व पशु होगा। किसी भी दशा में प्रथम नरक से नीचे नहीं जाता है। सम्यग्दर्शन मोक्ष महल की प्रथम सोपान (सीढ़ी) है। अतएव प्रत्येक प्राणी को सम्यग्दर्शन धारण करने का प्रयत्न करना चाहिये।

यदि गम्भीरता से विचार किया जाय, तो मालूम होगा, कि सम्यग्दर्शन, ज्ञानचारित्र, में प्राण की तरह काम करता है। इसके

---

* रागादीनामनुद्रेकः प्रशमः। संसाराद् भीरुता संवेगः। संसार शरीर भोगेषु उपरतिः निर्वेदः। सर्वभूत दया अनुकम्पा। जीवादयोऽर्था यथास्वं सन्तीतिमतिरास्तिक्यम्। स. सि.

† सम्यग्दर्शन शुद्धाः नारकतिर्यङ् नपुंसक स्त्रीत्वानि।
दुष्कुल विकृताल्पायुर्दरिद्रतां व्रजन्ति नाऽप्यव्रतिका। र० क० श्रा०

बिना ज्ञान, और चारित्र, दोनों ही मृतक (मुर्दा) के समान हैं। स्वामी समन्तभद्राचार्य कहते हैं कि सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान, और चारित्र, (यथार्थ रूप) न उत्पन्न हो सकते हैं, न वृद्धि प्राप्त कर सकते हैं और न फल ही दे सकते हैं। जिस प्रकार कि बीज के अभाव में वृक्ष न पैदा हो सकता है, न ठहर सकता है, न बढ़ सकता है, और न फल ही दे सकता ‡ है।

अब सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति किस प्रकार से होती है? इस बात को बताने के लिये उसके दो कारणों का उल्लेख करने के लिये सूत्र कहते हैं—

तन्निसर्गादधिगमाद्वा ॥ ३ ॥

सूत्रार्थः- (तत्) वह सम्यग्दर्शन (निसर्गात्) स्वभाव से (वा) अथवा (अधिगमात्) पर के उपदेश से उत्पन्न होता है।

विशेषार्थः—जो सम्यग्दर्शन पर के उपदेश बिना अपने आप ही उत्पन्न हो, उसको 'निसर्गज सम्यग्दर्शन' और जो अन्य के उपदेश से उत्पन्न हो, उसको 'अधिगमज सम्यग्दर्शन' कहते हैं। सम्यग्दर्शन के ये दो भेद उसके स्वरूपकी दृष्टि से नहीं बतलाए, किन्तु उत्पत्ति के दो कारणों की अपेक्षा से कहे गये हैं। यद्यपि दोनों ही प्रकार के सम्यग्दर्शनों में अन्तरंग कारण दर्शन मोह कर्म का उपशम, क्षयोपशम, और क्षय, समान रूप से है। उसके होने पर जो परोपदेश के विना ही स्वभाव (परिणाम विशेष के होने पर) से जो सम्यग्दर्शन होता है, उसको निसर्गज, और जो परोपदेश के निमित्त बिना ही 'परिणाम विशेष' के होने पर प्रकट होता है,

‡ विद्या वृत्तस्य संभूति स्थिति वृद्धि फलोदयाः।
न सन्त्यसति सम्यक्त्वे वीजाऽभावे तरोरिव ॥ ९० क०

उसको 'अधिगमज सम्यग्दर्शन' कहते हैं। सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में उपदेश आदि तो बाह्य कारण हैं, अतएव उन बाह्य कारणों की अपेक्षा से 'अधिगमज सम्यग्दर्शन' का भेद माना गया है। जिसमें वह कारण नहीं होता हैं, उसको 'निसर्गज सम्यग्दर्शन' समझना चाहिये।

सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में पांच लब्धियों को कारण माना है। 'लब्धि' शब्द का अर्थ 'प्राप्ति' है। सम्यक्त्व ग्रहण करने के योग्य सामग्री की प्राप्ति होना, इसको 'लब्धि' कहते हैं। उसके पांच भेद हैं। क्षायोपशमिक, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य, और करण, ये पांच लब्धि हैं। सम्यक्त्व के योग्य कर्मों के क्षयोपशम होने को 'क्षयोपशमिकलब्धि' कहते हैं। परिणामोंकी निर्मलताको 'विशुद्धि-लब्धि' कहते हैं। सम्यक्त्व की उत्पत्ति में सहायक योग्य उपदेश को 'देशनालब्धि' कहते हैं। पंचेन्द्रिय, सैनी, पर्याप्तक, जागृत, दशा आदि कारणोंके मिलनेको 'प्रायोग्यलब्धि' कहते हैं। 'करण' नाम आत्मा के परिणामों का है। वे अधःकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्ति करण, के भेद से तीन भेद रूप हैं। इन तीनों करणों का संक्षेप स्वरूप इस प्रकार है—

'करण' नाम आत्मा के परिणामों का है। इन परिणामों में प्रति समय अनन्तगुणी विशुद्धता होती जाती है। जिसके बल से कर्मों का उपशम, तथा क्षय, और स्थिति खंडन, एवं अनुभाग खंडन, होते हैं। इन तीनों करणों का काल यद्यपि सामान्यतः अन्तर्मुहुर्त मात्र है। तथापि अधः करण के काल के संख्यातवें भाग अपूर्व-करण का काल है, और अपूर्वकरण के काल से संख्यातवें भाग अनिवृत्त करण का काल है। अधः प्रवृत्त करण के परिणाम असंख्यात लोक प्रमाण हैं। अपूर्वकरण के परिणाम अधःकरण के

परिणामों से असंख्यात लोक गुणित हैं। और अनिवृत्तिकरण के परिणामों की संख्या उस के काल के समयों के समान है। अर्थात अनिवृत्ति करण के काल के जितने समय हैं, उतने ही उस के परिणाम हैं। अधःप्रवृत्तकरण का काल अन्तर्मुहुर्त मात्र है, और उसमें परिणाम असंख्यात लोक प्रमाण होते हैं। और ये परिणाम ऊपर २ सदृश वृद्धि (उन्नति) को प्राप्त होते गये हैं। अर्थात् यह जीव दर्शनमोहकी तीन, और अनन्तानुबंधी चतुष्क इस तरह सात प्रकृतियों, के एवं चारित्र मोह की शेष २१ प्रकृतियों का उपशम अथवा क्षय करने के लिये अधःकरण, अपूर्वकरण, और अनिवृत्त करणों, को करता है। उसमें अधःकरण श्रेणि चढ़ने के सन्मुख सातिशय अप्रमत्त (सातवें गुणस्थानी) के होता‡ है। और अपूर्वक-

‡ तीन (अधःकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण) भेद रूप करण लब्धि की आवश्यक्ता और उत्पत्ति इस जीव को दो वार होती है। एक तो दर्शन-मोह (सम्यक्त्व घातक तीन प्रकृति दर्शन मोह की और चार अनन्तानुवन्धी कषाय, इस प्रकार सात प्रकृति) के उपशम, अथवा क्षय, करने के लिये, और दूसरे चारित्र मोह की २१ प्रकृतियों के उपशय, अथवा क्षय, करने के लिये, सातवें सातिशय अप्रमत्त गुणस्थान से नवमें गुणस्थान तक होती है। प्रथम गुणस्थान में होने वाली करण लब्धि के परिणामों से सम्यग्दर्शन की, और सातवें से नवमें तक के परिणामों से चारित्र की उत्पत्ति होती है। दोनों प्रकार के परिणामों के नाम यद्यपि एक ही हैं, किन्तु दोनों की जाति पृथक२ है। प्रथम गुणस्थान के परिणाम सम्यक्त्व उत्पत्ति सम्बन्धी, और सातवें से नवमें तक के परिणाम, चारित्र उत्पत्ति सम्वन्धी होते हैं। क्योंकि सम्यक्त्व की उत्पत्ति चौथे गुणस्थान में हो जाती है। तथा चारित्र और सम्यक्त्व करणलब्धि के विना उत्पन्न नहीं होता है। यहांपर चारित्र सम्वन्धी करण लब्धि के परिणामों की अपेक्षा

रण आठवें, एवं अनिवृतकरण नौवें, गुण स्थान में होता है।

कल्पना की जाय, कि अधःकरण के काल के समयों का प्रमाण १६ अपूर्वकरण के समयों का प्रमाण ८, और अनिवृतकरण के काल के समयों का प्रमाण ४ है। अधःकरण के परिणामों की संख्या ३०७२ अपूर्व करण के परिणामों की संख्या ४०९६, और अनिवृतकरण के परिणामों की संख्या ४ है। एक समय में एक जीव के एक ही परिणाम होता है। इस लिये एक जीव अधःकरण के १६ समयों में १६ परिणामों को ही धारण करता है। अधःकरण और अपूर्वकरण के परिणाम जो १६, और ८, से अधिक कहे गये हैं, वे नाना जीवों की अपेक्षा से समझना चाहिये। यहां पर इतना विशेष समझना चाहिये, कि अधःकरण के १६ समयों में से प्रथम समय में यदि कोई भी जीव अधःकरण शुरू करेगा, तो उसके अधःकरण के समस्त परिणामों में से पहले १६२ परिणामों में से कोई एक परिणाम होगा। अर्थात् तीन काल में जब कभी चाहे जब जो अधःकरण शुरू करेगा, तो उस के पहले समय में नम्बर १ से लगा कर न० १६२ तक के परिणामों में से उस की योग्यता के अनुसार कोई एक परिणाम होगा। इसी प्रकार किसी भी जीव के उस के अधःकरण शुरू करने के दूसरे समय में न० ४० से लगाकर न०२०५ तक १६६ परिणामों से कोई एक परिणाम होगा। इसी प्रकार तीसरे, चौथे, आदि समयों में भी क्रम से न०८० से लगा कर २४९ तक १७० परिणामों से कोई एक और १२१ से लगाकर २९४तक के १७४ परिणामों से कोई एक परिणाम होगा। इसी प्रकार आगे के समयों में होने वाले परिणामों का क्रम समझ-

---

से कथन किया गया है। ऐसा ही क्रम सम्यक्त्व की उत्पत्ति में करण लब्धि के परिणामों का समझ लेना चाहिये।

ना चाहिये । इस विषय का विशेष विवरण 'सुशीला उपन्यास' (गुरुवर्य प० गोपालदासजी वरैया कृत) में देखना चाहिये । एक समय में अनेक जीव अनेक परिणामों को ग्रहण कर सकते हैं । इस लिये एक समय में अनेक परिणामों की संभावना है, अतएव एक समय में नाना जीवों की अपेक्षा से परिणामों में विसदृशता (भिन्नता या असमानता)है । एक समय में अनेक जीव एक परिणाम को ग्रहण कर सकते हैं । इस लिये एक समय में नाना जीवों की अपेक्षा से परिणामों में सदृशता (समानता) भी है । भिन्न भिन्न समयों में अनेक जीव अनेक परिणामों को ग्रहण कर सकते हैं । इस लिये भिन्न समयों में नाना जीवों की अपेक्षा से परिणामों में विसदृशता (असमानता) है । जो परिणाम किसी जीव के प्रथम समयमें हो सकता है, वही परिणाम किसी दूसरे जीव के दूसरे समय में, और तीसरे जीवके तीसरे समय में,तथा चौथे जीव के चौथे समय में, हो सकता है । इसलिये भिन्न समयवर्ती अनेक जीवों के परिणामों में सदृशता भी होती है । इसी प्रकार अन्य समयों के विषय में भी समझना चाहिये । सारांशतः अधःकरण के ऊपर २ के समस्त परिणाम पूर्व पूर्व परिणाम की अपेक्षा अनन्त २ गुणी विशुद्धता लिये हुये हैं ।

'अपूर्वकरण'‡ आठवें गुण स्थान के परिणामों को कहते हैं । इस गुण स्थान में भिन्न समयवर्ती जीव जो पूर्व समय में कभी भी प्राप्त नहीं हुये थे, ऐसे अपूर्व परिणामों को ही धारण करता है इस लिये इस गुण स्थान का नाम 'अपूर्वकरण' है । अर्थात् जिस

‡ इस अपूर्वकरण जाति के परिणाम सम्यक्त्व प्राप्ति के सन्मुख प्रथम गुणस्थान में भी होते हैं । इन परिणामों से सम्यग्दर्शन से उत्पत्ति होती है । किन्तु यहां पर चारित्र की अपेक्षा से कथन किया है ।

प्रकार अधःकरण में भिन्न समयवर्ती जीवों के परिणाम सदृश, और विसदृश दोनों ही प्रकार के होते हैं। वैसा अपूर्वकरण में नहीं है, किन्तु यहां पर भिन्न समयवर्ती जीवों के परिणाम विसदृश ही होते हैं, सदृश नहीं होते। इस गुणस्थान में भिन्न समयवर्ती जीवों में विशुद्ध परिणामों की अपेक्षा कभी भी सादृश्य (समानता) नहीं पाया जाता। किन्तु एक समयवर्ती जीवों में सादृश्य और वैसादृश्य (असमानता) दोनों ही पाये जाते हैं। इस गुणस्थान का काल 'अन्तर्मुहूर्तमात्र' है और इस में परिणाम असंख्यात लोक प्रमाण होते हैं और वे परिणाम उत्तरोत्तर प्रति समय समान वृद्धि को लिये हुये होते हैं तथा इस गुणस्थान में नियम से अनुकृष्टि रचना नहीं होती है। यद्यपि अधः प्रवृत्तकरण के काल से अपूर्वकरण का काल संख्यात गुण हीन (कम) है। तथापि सामान्य से अन्तर्मुहुर्त मात्र ही है। और इसमें परिणामों की संख्या अधः प्रवृतकरण के परिणामों की संख्या से असंख्यात लोक गुणी है। तथा इन परिणामों में उत्तरोत्तर प्रति समय समान वृद्धि होती गई है अर्थात् प्रथम समय के परिणामों से जितने अधिक द्वितीय समय के परिणाम हैं, उतने२ ही अधिक द्वितीयादि समय के परिणामों से तृतीयादि समय के परिणाम हैं। तथा जिस प्रकार अधःप्रवृतकरण में भिन्न समयवर्ती जीव के परिणामों में सादृश्य पाया जाता है। इस लिये जिस प्रकार वहां पर अनुकृष्टि रचना की है, उस प्रकार अपूर्वकरण में अनुकृष्टि रचना नहीं होती। क्योंकि भिन्न समयवर्ती जीवों के परिणामों में यहां पर सादृश्य नहीं पाया जाता। इन अपूर्वकरण के परिणामों के निमित्त से उपशम श्रेणी पर चढ़ने वाले जीव के मोहनीय कर्म का उपशम, और क्षपक श्रेणि वाले के क्षय होता है। तथा क्षपक

श्रेणि में मरण नहीं होता है।

अनिवृत्तिकरण के अन्तर्मुहूर्त मात्र काल में से आदि, मध्य, अथवा अन्त, के एक समयवर्ती अनेक जीवोंमें जिसप्रकार शरीरकी अवगाहनाआदि बाह्य कारणों से तथा ज्ञानावरणादि कर्म के क्षयोपशमादि अन्तरंग कारणोंसे परस्पर भेद पाया जाता है, उस प्रकार जिन परिणामोंके निमित से परस्पर में भेद नहीं पाया जाता। उनको अनिवृत्तिकरण परिणाम कहते हैं, और अनिवृत्तिकरणका जितना काल है, उतने ही उसके परिणाम हैं, इस लिये उसके काल के प्रत्येक समय में अनिवृत्तिकरण का एक २ ही परिणाम होता है। तथा ये परिणाम अत्यन्त निर्मल ध्यान रूप अग्नि की सहायता से कर्मों को भस्म करने में समर्थ होते हैं। अनिवृत्तिकरण का जितना काल है, उतने ही उस के परिणाम हैं। इस लिये प्रत्येक समय में एक ही परिणाम होता है। इस लिये यहां पर भिन्न समयवर्ती परिणामों में सर्वथा विसदृशता, और एक समयवर्ती जीवों के परिणामों में सर्वथा सदृशता होती है। इन परिणामों से ही आयु कर्म को छोड़ कर शेष सात कर्मों की गुण श्रेणि निर्जरा, गुण संक्रमण, स्थिति खण्डन, होता है। और मोहनीय कर्म की बादरकृष्टि, § सूक्ष्मकृष्टि, आदि होती है।

---

§ अनेक प्रकार की अनुभाग शक्ति से युक्त कार्माण वर्गणाओं के समूह को 'स्पर्द्धक' कहते हैं। जो स्पर्द्धक अनिवृत्तिकरण के पूर्व में पाये जायं उन को 'पूर्व स्पर्द्धक' कहते हैं। जिनका अनिवृत्तिकरण के निमित से अनुभाग क्षीण हो जाता है उनको 'अपूर्वस्पर्द्धक' कहते हैं। तथा जिन का अनुभाग अपूर्व स्पर्द्धकों से भी क्षीण हो जाय, उनको बादरकृष्टि, और जिन का अनुभाग बादर कृष्टि की अपेक्षा भी क्षीण हो जाय, उनको सूक्ष्म कृष्टि, कहते हैं। पूर्वस्पर्द्धक के जघन्य अनुभाग से अपूर्वस्पर्द्धक का

इस प्रकार जब इन तीन प्रकार के परिणामों से कर्मों की स्थिति घट कर अन्तः कोटा कोटी प्रमाण रह जाती है, एवं जब उस के परिणाम एक विशिष्ट जाति की निर्मलता को धारण करते हैं, तभी उस में सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्चारित्र जैसा अमूल्य रत्न स्थिर रहता है। उपर्युक्त पांच लब्धियों में से आदि की चार लब्धियां तो सामान्य हैं। अर्थात् भव्य अभव्य दोनों के होती हैं। किन्तु 'करण लब्धि' असाधारण है। इस के होने पर नियम से सम्यक्त्व या चारित्र होता है। जब तक करण लब्धि नहीं होती तब तक सम्यक्त्व या चारित्र नहीं होता। अनादि काल से इस जीव को चार लब्धियों की प्राप्ति तो अनेक बार हुई। परन्तु पांचवीं करण लब्धि के अभाव से सम्यग्दर्शन एवं चारित्र प्राप्त न होसका। फिर भी सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में उन चार लब्धियों का होना भी आवश्यक है। तभी यह अनादि मिथ्या दृष्टि जीव भी अपने उपयोग स्वभाव के कारण परिणाम विशेष के द्वारा देशना (परोपदेश) लब्धि के बिना ही 'करण लब्धि' के भेद स्वरूप अपूर्वकरण परिणामों को प्राप्त करके उसी से सम्यग्दर्शन प्राप्त करलेता है। इसी को 'निसर्गज सम्यग्दर्शन' कहते हैं। और जो साक्षात् परोपदेशके मिलने पर तत्वार्थ श्रद्धान होता है, उस को अधिगमज सम्यग्दर्शन कहते हैं।। इन दोनों में देशना (उपदेश)

उत्कृष्ट अनुभाग भी अनन्त गुण हीन है। 'इसी प्रकार अपूर्वस्पर्द्धक' के जघन्य से बादर कृष्टि का उत्कृष्ट और बादरकृष्टि के जघन्य से सूक्ष्म कृष्टि का उत्कृष्ट अनुभाग अनन्त गुणा २ हीन है। और जिस प्रकार पूर्वस्पर्द्धक के उत्कृष्ट से पूर्वस्पर्द्धक का जघन्य अनन्त गुणाहीन है। उसी प्रकार अपूर्वस्पर्द्धक आदि में भी अपने २ उत्कृष्ट से अपना २ जघन्य अनुभाग अनन्त गुणा २ हीन २ है।

के साक्षात् असाक्षात् रूप से मिलने अथवा न मिलने का ही भेद समझना चाहिये।

सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति चारों गतियों में निम्न लिखित वाह्य कारणों से होती है। नरक गति में जातिस्मरण, धर्म श्रवण, और वेदना, से पीड़ित होकर सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है। चौथे से सातवें नरक तक वेदना, और जातिस्मरण, दो ही कारण हैं। धर्म श्रवण नहीं है। क्योंकि तीसरे नरक तक ही असुर कुमारों का गमन है। पशुओं के जातिस्मरण, धर्मश्रवण, जिनबिंब दर्शन, ये तीन कारण हैं। और मनुष्यों के भी पशुओं के समान ही तीन कारण हैं। देवों में भवनवासी देवों से लेकर बारहवें स्वर्ग तक जातिस्मरण, धर्म श्रवण, जिनबिंबदर्शन, और देवों की ऋद्धि का देखना, ये चार कारण हैं। तेरहवें स्वर्ग से सोलहवें स्वर्ग पर्यन्त देव ऋद्धि के बिना तीन ही कारण हैं। इससे ऊपर नवग्रैवेयक तक जातिस्मरण, धर्म श्रवण, दो ही कारण हैं। इस से ऊपर मिथ्यादृष्टि जीव उत्पन्न नहीं होता है। अर्थात् सम्यग्दर्शन को प्राप्त करके ही नवग्रैवेयक से ऊपर जीव उत्पन्न होता है। इन वाह्य कारणों के अतिरिक्त 'दर्शन मोह' का उपशम, क्षयोपशम, अथवा क्षय सब के चारों ही गतियों में समान रूप से अन्तरंग कारण होता है। ये तो मात्र वाह्य कारण हैं। सारांशतः इन उपर्युक्त वाह्य कारणों में धर्म श्रवण (उपदेश) की मुख्यता से जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है, उसको 'अधिगमज' और शेष (उपदेश के अतिरिक्त) कारणों की अपेक्षा से 'निसर्गज सम्यग्दर्शन' समझना चाहिये। क्योंकि दोनों ही सम्यक्त्वों में अन्तरंग कारण समान † होता है। अतएव उस अन्तरंग कारणकी इन दोनों भेदों

† उभयत्र सम्यग्दर्शने अन्तरंगो हेतुस्तुल्यो दर्शन मोहस्योपशमः

में अपेक्षा नहीं है।

अब प्रयोजन भूत (सप्ततत्व) तत्वों के वर्णनार्थ सूत्र कहते हैं—

जीवाजीवास्रव बन्ध संवर निर्जरा मोक्षास्तत्वम् ॥४॥

सूत्रार्थः—(जीवाजीवास्रव बन्ध संवर निर्जरा मोक्षाः) जीव अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, और मोक्ष, ये सात (तत्त्वं) तत्त्व हैं ॥४॥

विशेषार्थः—जो चेतना गुण (ज्ञान दर्शन) सहित है, अर्थात जो जानने देखने की शक्ति रखने वाला है, उसको 'जीव' कहते हैं और उसके संसारी, मुक्त, त्रस, स्थावर आदि अनेक उत्तर भेद हैं। और जो चेतना गुण (ज्ञान-दर्शन) से रहित है अर्थात् जिसमें जानने देखने की शक्ति नहीं है, उसको 'अजीव' कहते हैं। और उसके पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, और काल, ये पांच भेद हैं। जीव और अजीव (पुद्गल) का संयोग होने पर नवीन कार्माण (जो पुद्गल स्कन्ध कर्म रूप परिणमन करने की योग्यता रखते हैं, उनको कार्माण वर्गणा कहते हैं) वर्गणाओं के आने को अथवा जिन (मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय, और योग) परिणामों के द्वारा कर्म आते हैं, उनको 'आस्रव'† कहते हैं। जो कि पुण्य, पाप, द्रव्याश्रव, भावाश्रव, साम्परायिक, ईर्यापथ, आदि के भेद से अनेक प्रकार का होता है। आत्मा के साथ कर्मों के एक क्षेत्रा-

---

क्षयः क्षयोपशमं वा। तस्मिन्सति यद्बाह्योपदेशादृते प्रादुर्भवति। तन्नैसर्गिकं। यत्परोपदेश पूर्वकं जीवाद्यधिगम निमित्तंस्यात् तदुत्तरम्। इत्यनयोरयं भेदः।

स० सि०

† शुभाशुभ कर्मागम द्वार रूप आस्रवः।

वगाह (दूध और पानी के समान एकमेक होना) सम्बन्ध को 'बन्ध' ‡ कहते हैं। उसके प्रकृति, स्थिति, प्रदेश, अनुभाग, द्रव्य, भाव, आदि अनेक भेद हैं। कर्मों के आगमन (आश्रव) के रुक जाने को, अथवा जिन भावों (गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषह जय और चारित्र) के निमित्त से कर्मों का आना रुक जाय, उसको 'संवर' कहते हैं। उसके द्रव्य, भाव आदि अनेक भेद हैं।

आत्मा के प्रदेशों से कर्मों का एक देश पृथक् होना, अथवा जिन परिणामों से एक देश कर्म आत्मा से पृथक् हों, उसको §'निर्जरा' कहते हैं। उसके सविपाक, अविपाक, द्रव्य, भाव, आदि के भेद से अनेक भेद हैं। आत्मा से समस्त कर्मों का पूर्णरूपेण (सर्वथा) पृथक् हो जाना, अर्थात् कर्मों का सर्वथा नाश हो जाना, * 'मोक्ष' है। इन्हीं सातों तत्वों का इस ग्रन्थ में विस्तार से कथन करेंगे। चूंकि मोक्ष मार्ग में इनके श्रद्धान से सहायता मिलती है। इस लिये इनको "प्रयोजन भूत तत्व" कहा गया है।

प्रारम्भ में जीव और अजीव के भेदसे तत्व दो प्रकार का है। सामान्यतया जीव का एक ही भेद है और अजीव के उपर्युक्त पांच भेद हैं। इन्हीं पांच भेदों में जीव को मिला देने से 'छह द्रव्य' बन जाते हैं, या कहलाते हैं। इन में से 'काल' को पृथक् करने पर 'पंचास्तिकाय' कहते हैं।

यह 'विश्व' जीव और अजीव का, अर्थात् छह द्रव्यों का (जीव पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल) समुदाय है। पुद्गलों में सूक्ष्म जाति की कर्म वर्गणायें हैं। उन्हीं के संयोग से आत्मा अशुद्ध होता

---

‡ आत्म कर्मणोरन्योऽन्य प्रदेशानुप्रवेशात्मको बन्धः।

§ एक देश कर्म संक्षय लक्षणा निर्जरा।

* कृत्स्न कर्म विप्रयोग लक्षणो मोक्षः।

है। आश्रव, और बन्ध अशुद्धता के कारण को बताते हैं। संवर अशुद्धता के रोकने का, व निर्जरा अशुद्धता के दूर होने का, उपाय बताते हैं। मोक्ष, बन्ध रहित व शुद्ध अवस्था बताता है। ये सात तत्व जीव की शुद्ध अशुद्ध अवस्था के जानने में बड़े उपयोगी हैं। इनको ठीक २ जाने बिना आत्मा को कर्म की बीमारी नहीं मिट सकती। इन्हींका सच्चा श्रद्धान 'व्यवहार सम्यग्दर्शन' है। इन्हीं के मनन से 'निश्चय सम्यग्दर्शन' होता है। अतएव ये सात तत्व 'निश्चय सम्यक्त्व' के होने में बाहरी निमित्त कारण हैं। अन्तरंग निमित्त कारण अनन्तानुबन्धी चार कषाय, और मिथ्यात्व, का उपशम होना है। रोगी जीव को इस बात के जानने की प्रथम यह आवश्यकता है, कि मैं मूल में कैसा हूं, रोग किस कारण से हुवा है, और रोग के दूर करने का क्या उपाय है। इसी प्रकार संसारी जीव को इस बात के जानने की आवश्यकता है, कि मैं मूल में कैसा हूं। मैं क्यों अशुद्ध हो रहा हूं? और मेरी अशुद्धता का क्या कारण है? तथा इस अशुद्धता के दूर करने का क्या उपाय है? जैसे किसी नाव में पानी आता है, तो उस समय यह जानने की आवश्यकता है, कि नाव में पानी किस कारण से आ रहा है। और यह पानी किस तरह रोका जा सकता है? और आया हुवा पानी किस प्रकार निकाला जा सकता है? संसारी जीव के पुण्य-पाप का बन्ध कैसे होता है। नवीन आश्रव और बन्ध को रोकने का क्या उपाय है? और पुरातन कर्म बन्ध को कैसे काटा जा सकता है? इत्यादि बातें मालूम होना, मोक्ष प्राप्ति के लिये आवश्यक हैं। मैले कपड़े के विषय में जब तक यह मालूम न हो, कि यह कपड़ा मैला है? और किस कारण से मैला है? तथा मैल को दूर करने के लिये किस मसाले की आवश्यकता है? एवं यह

कपड़ा साफ हो सकता है या नहीं ? इत्यादि प्रश्नों के उत्तर ठीकर मालूम हो जावें तो कपड़े को हम भली प्रकार साफ कर सकते हैं। ठीक इसी प्रकार आश्रव और बन्ध से हमें आत्मा की अशुद्धता, और उसके कारणों का बोध हो जाता है। संवर-निर्जरा, तत्व से अशुद्धता दूर होने के उपाय मालूम हो जाते हैं। मोक्ष आत्मा की शुद्ध दशा को बतलाता है। जीव और अजीव के (पुद्गलके) संयोग से और वियोग से शेष ५ पांच तत्व बनते हैं। अर्थात् आश्रव बन्ध, संसार के और संवर-निर्जरा, मोक्ष के कारण हैं। इसी प्रयोजन भूत (मतलबकी) बात को बतलाने के लिये जैनाचार्यों ने सात तत्व बतलाये हैं। अतएव हमें मोक्ष प्राप्ति के लिये इन प्रयोजनीय जीवादिक सात तत्वों का श्रद्धान और ज्ञान प्राप्त करना चाहिये।

अब इन उल्लिखित तत्वों का व्यवहार किस २ तरह से होता है, या करना चाहिये, यही प्रकट करने के लिये सूत्र कहते हैं—

नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यासः ॥५॥

सूत्रार्थः—(नाम स्थापना द्रव्य भावतः) नाम, स्थापना, द्रव्य, और भाव, से (तत्न्यासः) उन सात तत्वोंका, तथा सम्यग्दर्शनादिक, का न्यास अर्थात् लोक व्यवहार होता है। इन चारों को 'निक्षेप' कहते हैं।

विशेषार्थ—इन 'सूत्र' में चार निक्षेपों का वर्णन किया गया है। पहले 'निक्षेप' का खुलासा कहते हैं। पदार्थों का लौकिक व्यवहार निक्षेप के द्वारा होता है। युक्ति* के द्वारा सुयुक्त (ठीक) मार्ग के होते हुये कार्य के वश से नाम, स्थापना, द्रव्य, और भाव, में

* जुत्तो सुजुत्त मग्गे ज चउभेयेण होई खलु ठवणं।
कज्जे सदि नामादिसुतं णिक्खेवं हवे समये। 'नय चक्रे'

पदार्थ के आरोपण करने को 'निक्षेप' कहते हैं। अथवा जिस उपाय के द्वारा पदार्थों का व्यवहार किया जाता है, उस उपाय को 'निक्षेप' कहते हैं। 'निक्षेप' शब्दका अर्थ रखना या 'आरोपण‡करना' होता है। शब्द का अर्थ में, एवं अर्थ का शब्द में, जिस तरह आरोप किया जाता है, उसे 'निक्षेप' समझना चाहिये। दूसरे शब्दों में हम पदार्थ की संज्ञा (नाम) रखने को भी 'निक्षेप' कह सकते हैं। प्रत्येक शब्द के कम से कम कितने अर्थ हो सकते हैं? इस प्रश्न का उत्तर हमें निक्षेप से ही मिल सकता है। किसी शब्दके सैकड़ों अर्थ हम भले ही करलें, परन्तु उनके नाम, स्थापना, द्रव्य, और भाव, के द्वारा अर्थ अवश्य होंगे। येही चार निक्षेप होते हैं।

नय ज्ञानात्मक होता है। क्योंकि उसके द्वारा वस्तु का ज्ञान होता है। इस लिये पदार्थ के साथ उसका 'विषय विषयी सम्बन्ध' है। शब्द और अर्थ का 'वाच्य वाचक सम्बन्ध' है। इस वाच्य वाचक सम्बन्ध के स्थान की क्रिया ही निक्षेप है। 'वाच्य वाचक सम्बन्ध' और उसकी क्रिया नय से जानी जाती है। इस लिये निक्षेप भी 'नय का विषय' है। सारांशतः नय और निक्षेप में विषय विषयी सम्बन्ध समझना चाहिये। आदि के तीन निक्षेप द्रव्यार्थिक नय के विषय हैं। और भाव निक्षेप पर्यायार्थिक नय का विषय है। द्रव्यार्थिक नय का विषय है द्रव्य, वह नाम, स्थापना, और द्रव्य, तीनों में पाया जाता है। क्योंकि इन तीनों निक्षेपों का सम्बन्ध तीनों कालों से है। 'भाव निक्षेप' का सम्बन्ध वर्तमान काल मात्र से है। इसलिये उसमें द्रव्य (अन्वय) नहीं है। उसका वर्तमान पर्याय से सम्बन्ध होने के कारण वह पर्यायार्थिक नय का विषय है।

---

‡ प्रमाण नययोर्निक्षेपणं आरोपणं निक्षेपः। सः नाम स्थापनादि भेदेन चतुर्विध ॥ आलाप पद्धतिः।

अब चारों निक्षेपों का पृथक् २ व्याख्यान किया जाता है—

नामनिक्षेप—गुण, जाति, द्रव्य और क्रिया, की अपेक्षा बिना ही अपनी इच्छानुसार लोक व्यवहार चलाने के लिये किसी पदार्थ की संज्ञा रखने को 'नाम निक्षेप' कहते हैं। अर्थात् किसी वस्तु में उसके नाम के अनुसार गुण तो न हों, केवल व्यवहार चलाने के लिये उसका नाम रख देना, 'नाम निक्षेप' है। जैसे कोई पुरुष अपने पुत्र का नाम 'इन्द्रराज' रख लेता है। तो उसमें इन्द्र के समान गुण, जाति, द्रव्य, क्रिया कुछ भी नहीं है। सिर्फ उसके माता पिता ने व्यवहार के लिये नाम रख लिया है। इसको 'नाम निक्षेप' समझना चाहिये।

स्थापना निक्षेप— धातु, काष्ठ, पाषाण, और मिट्टी, के चित्र आदिक तथा शतरंजके गोटों में हाथी, घोड़ा, राजा, मंत्री, इत्यादि तदाकार एवं अतदाकार रूप मान लेना, अथवा कल्पना कर लेना, इसको 'स्थापना निक्षेप'† कहते हैं। अर्थात् जो पदार्थ जिस आकार का हो, उसको वैसा ही पाषाण आदि का बनाकर, उस में उसी की स्थापना करने को 'तदाकार स्थापना' कहते हैं। जैसे महावीर भगवान् की वीतराग रूप जैसी की तैसी शान्तमुद्रा युक्त धातु पाषाण मय प्रतिमा की महावीर भगवान् के समान ही प्रतिष्ठा करना, यह 'तदाकार स्थापना' है। और जिस में वस्तु का यथार्थ आकार न हो, ऐसे किसी भी पदार्थ में किसी की कल्पना या स्थापना करना कि 'यह वही है" इस प्रकार के व्यवहार को 'अतदा-

†—सोऽयमित्यक्ष काष्ठादौ सम्बन्धे नात्मवस्तुनः।
यद् व्यवस्थापना मात्रं स्थापना साविधीयते॥
'तत्त्वार्थसारे'

कार स्थापना'‡ कहते हैं। जैसे किसी खेल (शतरंज का खेल) में गोटों में हाथी, घोड़ा, आदि की कल्पना कर लेना, यह 'अतदाकार स्थापना' है।

नाम निक्षेप, और स्थापना निक्षेप, में यह अन्तर है, कि नाम निक्षेप में पूज्य, अपूज्य, आदर, अनादर का भाव नहीं है। और स्थापना निक्षेप में प्रतिष्ठा, आदर, और पूज्य बुद्धि, होती है। यद्यपि नाम और स्थापना दोनों ही अतद्गुण (गुण रहित) हैं। तथापि दोनों में अन्तर (भेद) है।

द्रव्य निक्षेप—भूत काल में प्राप्त हो चुकी अवस्था को, एवं आगामी माल में प्राप्त होने वाली अवस्था को, वर्तमान काल में कहना,'द्रव्य निक्षेप' है। जो पदार्थ भूत काल में जिस रूप से था, अथवा आगामी काल में जिस रूप से होगा, उस पदार्थ को वर्तमानमें भी उसी रूप से व्यवहार करना 'द्रव्य निक्षेप' कहलाता है। द्रव्य निक्षेप तद्गुण (गुण सहित) होता है। परन्तु पदार्थ में जो गुण आगे होने वाले हैं। अथवा पहले हो चुके हैं। उन गुणों वाला उसे वर्तमान में कहना यही द्रव्य निक्षेप का विषय है।

भावी पर्याय के समान भूत पर्याय भी द्रव्य निक्षेप का विषय है। यह बात अन्य ग्रन्थों से प्रगट होती है। जैसे राज्य के चले जाने पर भी पुरुष को वर्तमान में राजा कहना, अथवा आगे राजा होने वाले राजा के पुत्र को वर्तमान में राजा कहना। द्रव्य निक्षेप वर्तमान गुणों की अपेक्षा नहीं रखता है, इस लिये वह ऋजुसूत्रनय का विषय नहीं है। किन्तु भूत और भावी नैगमनय

‡ साकारे वा निराकारे काष्ठादौ यन्निवेशनम्।
सोऽय मित्यवधानेन स्थापना साभिगद्यते॥
'तत्त्वार्थसारे'

का विषय है। इस निक्षेप के आगम द्रव्यनिक्षेप, और नो आगम द्रव्य निक्षेप, इस तरह दो भेद हैं।

कोईर नैगम नय, और द्रव्य निक्षेप, का विषय†समान समझते हैं; परन्तु ऐसा नहीं है। नय ज्ञानरूप है, और निक्षेप पदार्थों का व्यवहार मात्र है। अतएव नैगम नय और द्रव्य निक्षेप में 'विषय विषयी सम्बन्ध' है। नय विषयी है, निक्षेप विषय है। भाव निक्षेप—वर्तमान पर्याय के द्वारा उपलक्षित पदार्थ को 'भाव निक्षेप'‡कहते हैं। अर्थात् वर्तमानमें जो पदार्थ जिस पर्याय सहित हैं, उनको उसी पर्याय वाला कहना, भाव निक्षेप हैं। जैसे राज्य करते हुये ही पुरुष को राजा कहना। भाव निक्षेप वर्तमान तद्गुण (गुण सहित) वाले पदार्थ का वर्तमान में ही निरूपण करता है। इसलिये वह ऋजुसूत्र नय और एवंभूतनय का विषय है। यदि शब्द की वाच्य मात्र पर्याय का निरूपण करता है, तब तो वह एवंभूत नय का विषय है। और यदि पदार्थ की समस्त अर्थ पर्यायों को वर्तमान में निरूपण करता है, तो वह ऋजुसूत्र नय

---

† मेरे एक मित्र की शंका थी, कि भाव निक्षेप, ऋजुसूत्र नय, और एवंभूत नय, इन तीनों में क्या अन्तर है? क्योंकि ये तीनों ही वर्तमान पदार्थ का निरूपण करते हैं? इसका समाधान यह है, कि निक्षेप और नयोंमें विषय विषयी भेद है। ऋजुसूत्र, अर्थ नय है। एवंभूत, शब्द नय है। अर्थात् ऋजु सूत्र नय पदार्थ की वर्तमान समस्त अर्थ पर्यायों को ग्रहण करता है। और एवंभूत नय बोले हुये शब्द की वाच्य मात्र वर्तमान क्रिया को ग्रहण करता है। इस लिये दोनों में महान् अन्तर है।

‡ वर्तमानेन यत्नेन पर्यायेणोपलक्षितम्।
द्रव्यं भवति भावं, तं वदन्ति जिन पुंगवाः॥
'तत्त्वार्थ सारे'

का विषय है। द्रव्य निक्षेप, और भाव निक्षेप, दोनों ही तद्गुण (गुण सहित) हैं, तथापि उनमें काल भेदसे भेद है। 'भाव निक्षेप' के 'आगम भाव निक्षेप' और 'नो आगम भाव निक्षेप' इस प्रकार दो भेद हैं।

अन्तर्नयोंकी अपेक्षासे नाम निक्षेप, समभिरूढ़ नय का, और स्थापना निक्षेप, तथा द्रव्य निक्षेप, नैगम नय का, एवं भाव निक्षेप ऋजु सूत्र नय, और एवं भूत नय, का विषय समझना चाहिये।

इन चारों निक्षेपों को जीव द्रव्य के ऊपर इस प्रकार घटाया जा सकता है—'जीव' शब्द का व्यवहार चार प्रकार से हो सकता है—नाम जीव, स्थापना जीव, द्रव्य जीव, और भाव जीव। चेतन अथवा अचेतन किसी भी द्रव्य की 'जीव' ऐसा नाम रख देने को नाम जीव कहते हैं। किसी भी काष्ठ, पुस्तक, चित्र आदि में 'ये जीव हैं' इस तरह के आरोपणको 'स्थापना जीव' कहते हैं। 'द्रव्य जीव' गुण पर्याय से रहित होता है। सो यह अनादि परिणामिक भाव से युक्त है। अतएव जीव को द्रव्य जीव केवल बुद्धि में स्थापित करके ही कह सकते हैं। क्योंकि जो पदार्थ अजीव होकर जीव रूप हो सके, वह 'द्रव्य जीव' कहा जा सकता है परन्तु यह बात अनिष्ट है। द्रव्य निक्षेप को जीव के ऊपर यहां पर जीवत्व-सामान्य की दृष्टि से घटाया गया है। किन्तु जीव विशेष की अपेक्षा से यह निक्षेप भी इस प्रकार घटित हो सकता है, कि जैसे कोई मनुष्य जीव मर कर देव होने वाला है, क्योंकि उसने देव आयु का निकाचित (जिस कर्म का फल अवश्यमेव भोगना ही पड़े, उसको 'निकाचित बन्ध' कहते हैं) बन्ध किया है, ऐसी दशा में उस मनुष्य जीव को देव जीव कहना द्रव्य निक्षेप का विषय समझना चाहिये। इसी प्रकार अन्यत्र भी घटा लेना उचित है।

जो औपशमिकादि भावों से युक्त हैं और जिन का लक्षण उपयोग है, ऐसे जीवों को 'भाव जीव' कहते हैं। वे दो प्रकार के हैं संसारी और मुक्त। इन दोनों का स्वरूप दूसरे अध्याय में लिखा जायगा। जिस प्रकार यहां पर जीव के ऊपर ये चारों निक्षेप घटित किये गये हैं उसी प्रकार अन्य अजीवादिक तत्वों और सम्यग्दर्शनादिकों के ऊपर भी घटित कर लेना चाहिये। इस प्रकार इन चारों निक्षेपों से जीवादि पदार्थों का व्यवहार होता है। अब जीवादि पदार्थों को जानने के लिये और भी अन्य उपाय बताने के लिये सूत्र कहते हैं।

प्रमाण नयैरधिगमः ॥६॥

सूत्रार्थः—उन जीवादिक तत्वों का तथा सम्यग्दर्शनादिकों का (अधिगमः) ज्ञान अर्थात् स्वरूप का जानना (प्रमाण नयैः) प्रत्यक्ष परोक्ष प्रमाणों से और द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक नयों से होता है॥ ६॥

विशेषार्थः—जिन जीव अजीवादि तत्वों को ऊपर वर्णन कर चुके हैं तथा उन्हीं का चार निक्षेपों के द्वारा लोक व्यवहार करने का प्रकार (तरीक़ा) भी ऊपर प्रगट किया जा चुका है। उन्हीं का विस्तार पूर्वक ज्ञान 'प्रमाण' और नयों, से प्राप्त करना चाहिये। सम्यग्ज्ञान को प्रमाण कहते हैं अथवा जिस ज्ञान के द्वारा वस्तु का यथार्थ स्वरूप जाना जाता है वह (ज्ञान) प्रमाण‡ कहलाता है। सम्पूर्ण वस्तु के ग्रहण करने वाले ज्ञान को प्रमाण§ कहते हैं। इस प्रमाण के मूल में दो भेद हैं, परोक्ष सविकल्पक*

‡ प्रमीयते परिच्छिद्यते वस्तुतत्वं येन ज्ञानेन तत्प्रमाणम्। आ. प.

§ सकल वस्तु ग्राहकं प्रमाणम्। आ. प.

*सविकल्पं मानसं तत् चतुर्विधं मतिश्रुतावधिमनःपर्ययरूपम्। आ. प.

और प्रत्यक्ष (निर्विकल्प‡)। जो इन्द्रिय अथवा मन की सहायता से उत्पन्न होता है उस को 'परोक्ष' कहते हैं जैसे मति श्रुत अवधि, मन: पर्यय ज्ञान। जो दूसरे (इन्द्रिय मन) की सहायता न लेकर केवल आत्मा मात्र में ही उत्पन्न होता है, उस ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं अर्थात् जिस प्रमाण के द्वारा पदार्थ का निर्मल प्रतिभास हो उसको 'प्रत्यक्ष प्रमाण' कहते हैं, जैसे केवल ज्ञान।

प्रमाण अनन्त पदार्थों को भी जानता है और अपने को भी जानता है, जिस प्रकार दीपक अन्य पदार्थों को प्रकाशित करने के साथ ही अपने को भी प्रकाशित करता है। दीपक को देखने के लिये जिस प्रकार दूसरे दीपक की आवश्यक्ता नहीं होती ठीक इसी प्रकार प्रमाण को जानने के लिये भी किसी दूसरे प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। प्रमाण के द्वारा जो चीज जैसी होती है वह वैसी ही जानी जाती है। यही प्रमाण की सचाई है। अर्थात् वास्तविक अर्थ को जानने वाला ज्ञान ही प्रमाण होता है। इस प्रमाण के सांव्यवहारिक, और पारमार्थिक इस प्रकार दो भेद हैं जो प्रमाण वास्तव में तो प्रत्यक्ष नहीं है, किन्तु अन्य ज्ञानों की अपेक्षा कुछ स्पष्ट होने से लोक व्यवहार में प्रत्यक्ष माना जाता है उसे 'सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष' कहते हैं सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष वस्तुतः परोक्ष ही है। इन्द्रियादिकों की सहायता के बिना जो ज्ञान केवल आत्मा से होता है, उसे 'पारमार्थिक' कहते हैं। सांव्यवहारिक प्रत्यक्षके अवग्रह, ईहा, अवाय, और धारण, इस प्रकार चार भेद हैं। पारमार्थिक प्रत्यक्ष के भेदों में कहीं कहीं पर अवधि, और मन: पर्यय ज्ञान को भी गिनाया है।

प्रमाण के द्वारा ग्रहण कीगई वस्तु के एक अंश के ग्रहण करने

---

‡ निर्विकल्पं मनो रहितम् केवलज्ञानम्। आ. प.

वाले ज्ञान को 'नय' कहते हैं, अथवा श्रुत ज्ञान के विकल्प को नय * कहते हैं, एवं ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहते हैं। तथा जो नाना स्वभावों से हटा करके किसी एक स्वभाव में वस्तु को प्राप्त कराता है, उसको नय कहते हैं। नय के मुख्य रूप से सात (जिनका वर्णन आगे इसी अध्याय में विस्तार से किया जायगा) भेद हैं—इन सात भेदों के उत्तर भेद अधिक हैं। प्रमाण और नय दोनों ज्ञान स्वरूप हैं। फिर भी इन दोनों में महान् अन्तर है। क्योंकि एक गुण के द्वारा समस्त वस्तु स्वरूप के ग्रहण करने को प्रमाण, और वस्तु के एक अंश विशेष के ग्रहण करने को नय कहते हैं। अतएव इन दोनों में सकलादेश और विकलादेश ‡ का अंतर समझना चाहिये। मतलब यह है, कि प्रमाण वस्तु के पूर्ण रूप को ग्रहण करता है, और नय उसके अंशों को। प्रमाण तो सब इन्द्रियों से हो सकता है, परन्तु नय मनके द्वारा ही होता है। जब तक हम वस्तु के जानने के लिये नय का उपयोग न करेंगे, तब तक हमें वस्तु का ठीक २ ज्ञान नहीं होगा। नय न तो प्रमाण है, न अप्रमाण है किन्तु प्रमाण का एक अंश है। क्योंकि नयके द्वारा वस्तु का नहीं, उसके एक अंश का ही निर्णय होता है। नय का विषय न तो वस्तु है न वस्तु के बाहर, किन्तु वस्तु का अंश है। जैसे समुद्र की एक बूंद न तो समुद्र ही है, न समुद्र के बाहर है, किन्तु समुद्र की एक अंश है। यदि एक बूंद को ही समुद्र मान लिया जाय, तो बाकी की बूंद समुद्र के बाहर हो जावेंगी। अथवा

---

* प्रमाणेन वस्तुसंग्रहीत्तार्थैकांशोनयः श्रुत विकल्पो वा, ज्ञातुरभिप्रायो वा नयः। नाना स्वभावेभ्यो,व्यावर्त्य एकस्मिन् स्वभावे वस्तु नयति प्राप्य-तीति वा नयः। 'आ० प०'।

‡ सकलादेशः प्रमाणाधीनः विकलादेशः नयाधीनः।

हर एक बूंद एक २ समुद्र कहलाने लगेगी। इस लिये एक समुद्र में असंख्यात समुद्रों का व्यवहार होने लगेगा।

नय का बचन के साथ बहुत कुछ घनिष्ट सम्बन्ध है। यदि वचन के साथ नय का सम्बन्ध है, तो उपचार से प्रत्येक नय बचनों के द्वारा भी प्रगट किया जा सकता है, अत एव बचन को भी नय कहना चाहिये। इस तरह प्रत्येक नय दो तरह का हो जाता है द्रव्य नय और भाव नय। ज्ञानात्मक नय को 'भाव नय' और बचनात्मक नय को 'द्रव्य नय' समझना चाहिये। किसीर आचार्य ने नय के विषय को भी नय कहा है। जिसके अनुसार प्रत्येक नय तीन प्रकार का भी हो सकता है। यथा—

सोचिय इक्को धम्मो वाचय सद्दो वितस्स धम्मस्स।

तं जाणदि जं णाणं तं तिण्णिविणय विसेसाय ॥ १ ॥

अर्थात्—वस्तु का एक धर्म, उस धर्म का वाचक शब्द, और उस धर्म को जानने वाला ज्ञान, ये तीनों ही नय हैं। नयों का प्रयोग करते समय इतना ध्यान रखना चाहिये कि वस्तु ऐसी ही नहीं है, बल्कि दूसरी दृष्टि से दूसरे प्रकार की भी है। बस, इसी दृष्टि का नाम 'स्याद्वाद' है। स्याद्वाद के रहस्य को समझने वाला मनुष्य उदार और विचारसहिष्णु होता है। नय दृष्टि उसके अज्ञान को दूर कर देती है। उसे विविध विचारों में समन्वय करने की योग्यता हो जाती है। अतएव वह सत्य पथ का पथिक बन जाता है।

अब उपर्युक्त उपायों के अतिरिक्त जीवादि पदार्थों को विस्तार से जानने के लिये और भी उपाय हैं। अतएव उनको भी बताने के लिये सूत्र कहते हैं—

निर्देशस्वामित्व साधनाधिकरण स्थिति विधानतः ॥७॥

सूत्रार्थः—निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति, और विधान इन छः अनुयोगों से भी जीवादिक तत्वों और सम्यग्दर्शनादिकों का अधिगम अर्थात ज्ञान होता है ॥ ७॥

विशेषार्थः—ये निर्देश आदिक जीवादिक तथा सम्यग्दर्शनादिक पदार्थों के विस्तार पूर्वक स्वरूप जानने के लिये छह अनुयोग (जानने के उपाय) द्वार हैं। किसी पदार्थ के लक्षण अथवा स्वरूप के कहने को 'निर्देश' कहते हैं। 'स्वामित्व' का अर्थ स्वामिपना है। 'साधन' का अर्थ कारण और 'अधिकरण' आधार को कहते हैं। 'स्थिति' का अर्थ काल की मर्यादा है। और 'विधान' भेद को कहते हैं। यहां पर मात्र सम्यग्दर्शन के ऊपर घटा कर दिखाते हैं। इसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ पर घटा लेना चाहिये।

'निर्देश' की अपेक्षा कोई प्रश्न करे, कि सम्यग्दर्शन का क्या स्वरूप है ? और उसका क्या लक्षण है ? तो इसका उत्तर यही है, कि सम्यग्दर्शन जीव द्रव्य स्वरूप है, और तत्वार्थ श्रद्धान उसका लक्षण है। 'स्वामित्व' के विषय में सम्यग्दर्शन का स्वामी जीव है, अर्थात् सम्यग्दर्शन जीव के होता है। साधन की अपेक्षा प्रश्न होने पर, कि सम्यदर्शन किसके द्वारा होता है ? तो उत्तर यही है, कि सम्यग्दर्शन निसर्ग और अधिगम इन दो कारणों से, अथवा साधनों से उत्पन्न होता है। निसर्गज अथवा अधिगमज दोनों ही प्रकार का सम्यग्दर्शन अपने २ आवरण कर्म के क्षय से, अथवा क्षयोपशम से, एवं उपशम से, हुवा करता है। अधिकरण की दृष्टि से कोई पूछे, कि सम्यग्दर्शन कहां रहता है ? तो उत्तर देना कि सम्यग्दर्शन जीव में रहता है। इसी तरह ज्ञान चारित्र के विषय

में समझ लेना चाहिये। स्थिति के अनुसार प्रश्न होने पर कि सम्यग्दर्शन कितने समय तक रहता है। अर्थात् सम्यग्दर्शन की कितनी स्थिति है ? तो उत्तर यही है कि सम्यग्दृष्टि सादि सान्त और सादि अनन्त के भेद से दो प्रकार के होते हैं। सम्यग्दर्शन की (उपशम क्षयोपशम सम्यक्त की अपेक्षा) जघन्य स्थिति अन्त-र्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति (क्षयोपशम सम्यक्त की अपेक्षा) कुछ अधिक छयासठ सागर प्रमाण है। किन्तु क्षायिक सम्यक्त की उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त सहित आठ वर्ष कम दो करोड़ पूर्व अधिक तेतीस सागर होती है।

सम्यग्दृष्टि सादि होकर अनन्त होते हैं। तेरहवें गुणस्थानवर्ती सयोगकेवली अरहन्त भगवान् और चौदहवें गुणस्थानवर्ती अयोग केवली तथा संसारातीत सिद्ध परमेष्ठी, ये सादि अनन्त सम्यग्दृष्टि हैं। 'विधान' नाम भेदों का है। सम्यग्दर्शन कारण के भेद से तीन प्रकार का होता है। उपशम, क्षयोपशम, क्षायिक सम्यग्दर्शन। अपने प्रतिपक्षी दर्शन मोह कर्म और चार अनन्तानुबन्धी कषाय के उपशम से उपशम सम्यक्त्व, क्षयोपशम और क्षय से क्रमशः क्षायोपशमिक और क्षायिक सम्यक्त्व होते हैं। औपशमिक और क्षायिक सम्यक्त्व की अपेक्षा क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में विशुद्धि कम हुवा करती है। क्योंकि इस में सम्यक्त्व नाम की देशघाति प्रकृति का उदय रहता है। जिस के निमित से उस में चल, मल, अगाढ़, ये तीन दोष उत्पन्न हुवा करते हैं। औपशमिक और क्षायिक सम्यक्त्व में उस का उदय नहीं रहता है। अतएव उन में दोष भी उत्पन्न नहीं होते हैं। तथा निर्मलता की अपेक्षा औपशमिक और क्षायिक दोनों सम्यग्दर्शन समान हैं। वस्तुतः तीनों सम्यक्त्व में स्थितिवन्ध कृत भेद है। अर्थात् स्थितियां तीनों

की पृथक् हैं, परन्तु अनुभागबन्ध कृत इनमें कोई भेद नहीं है। सभी भेदों में आत्मा को स्वानुभूत्यात्मक आनन्ददायक एक ही सम्यक्त्व गुण है। इस लिये रसोदय जनित कोई भेद सम्यक्त्व गुण में नहीं समझना चाहिये। उक्त तीन भेदों के सिवाय उत्पत्ति की अपेक्षा से ही सम्यक्त्व के दश‡ भेद और भी हैं।

इस प्रकार रत्नत्रय रूप मोक्ष मार्ग और उस के विषयभूत जीवादिक तत्वों को संक्षेप से जानने के लिये उपाय भूत निर्देशादिक छह अनुयोगों का वर्णन किया। परन्तु जो इस से भी अधिक विस्तार के साथ उन का स्वरूप जानना चाहते हैं, उन के लिये इन (निर्देशादिक) के अतिरिक्त सत् आदिक आठ अनुयोग द्वार और भी बताने के लिये सूत्र कहते हैं—

सत्संख्या क्षेत्र स्पर्शन कालान्तर भावाल्प बहुत्वैश्च ॥८॥

सूत्रार्थः-(च) और (सत्संख्या क्षेत्र स्पर्शन कालान्तर भावाल्प बहुत्वैः) सत, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव, और अल्प बहुत्व, इन आठ अनुयोग द्वारों से भी जीवादिक पदार्थों का तथा सम्यग्दर्शनादि का ज्ञान होता है। अब इन सब का विस्तार से कथन करते हैं—

विशेषार्थः—'सत्' शब्द के प्रशंसा आदि अनेक अर्थ हैं, परन्तु यहां पर इस का अर्थ 'अस्तित्व' है। ये सत् संख्या आदि आठ अनुयोग द्वार ऐसे हैं, कि जिन के द्वारा जीवादिक सभी पदार्थों के भेदों का क्रम से विस्तार पूर्वक ज्ञान होजाता है, यहां पर सम्यग्दर्शन के ऊपर घटा कर दिखाते हैं। इसी प्रकार अन्यत्र भी

‡ आज्ञा मार्ग समुद्भव मुपदेशात् सूत्रबीज संक्षेपात्।
विस्तारार्थाभ्यां भवमवगाढ परमावगाढे च॥ "आत्मानुशासन"

घटा लेना चाहिये । 'सत्' शब्द का अर्थ 'सत्ता' है । कोई 'सत्' की अपेक्षा प्रश्न करे कि सम्यग्दर्शन है या नहीं ? तो इस का सामान्य उत्तर यही है, कि है । परन्तु विशेष रूप से प्रश्न किये जाने पर कि सम्यग्दर्शन कहां कहां रहता है ? तो उसका उत्तर भी विशेष रूप से यही होगा, कि सम्यग्दर्शन अजीव में तो रहता नहीं जीव में ही रहता है । परन्तु जीव में भी सभी जीवों के नहीं रहता किसी में रहता है, किसी में नहीं रहता 'संख्या' की अपेक्षा-सम्यग्दर्शन की संख्या (संसारी सम्यग्दृष्टियों की अपेक्षा) असंख्यात है । परन्तु सम्यग्दृष्टि (सिद्धों की अपेक्षा) अनन्त है । क्षेत्र* की अपेक्षा सम्यग्दर्शन लोक के असंख्यातवें भाग में रहता है । अर्थात् असंख्यात प्रदेशरूप तीनसौ तेतालीस (३४३) राजू (जगत् श्रेणी के सातवें भाग को राजू कहते हैं) प्रमाण लोक में असंख्यात का भाग देने से जितने प्रदेश लब्ध आवें, उतने ही लोक के प्रदेशों में सम्यग्दर्शन पाया जाता है । 'स्पर्शन' की अपेक्षा-सम्यग्दर्शन लोक के असंख्यातवें ‡ भाग का ही स्पर्श करता है । परन्तु सम्यग्दृष्टि सम्पूर्ण लोक का (समुद्घात के समय की अपेक्षा) स्पर्श किया करते हैं । क्योंकि सम्यग्दर्शन उत्पन्न होकर छूट भी सकता है, परन्तु सम्यग्दृष्टि में यह बात नहीं है । 'काल' की अपेक्षा-एक जीव की अपेक्षा से सम्यग्दर्शन का जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है, और उत्कृष्ट काल कुछ अधिक छयासठ सागर (क्षयोपशम सम्यक्त्वकी अपेक्षा) प्रमाण है । नाना जीवों की अपेक्षा सम्यग्दर्शन का सम्पूर्ण काल है । अर्थात् कोई भी समय ऐसा न था, न है, और न होगा, कि

---

* वर्तमान काल के आधार को 'क्षेत्र' और तीनों काल के आधार को 'स्पर्शन' कहते हैं ।

‡ असंख्यात के भी असंख्यात भेद हैं अर्थात् त्रस नाड़ी में होता है ।

जब किसी भी जीव के सम्यग्दर्शन न रहा होगा, या न पाया जायगा। सम्यग्दृष्टि जीव दो प्रकार के होते हैं संसारी, और मुक्त। संसारी जीवों का सम्यग्दर्शन (उपशम क्षयोपशम सम्यक्त की अपेक्षा) सादिसान्त अन्तर्मुहूर्तसे लेकर कुछ अधिक छ्यासठ सागर तक रहता है। और मुक्त जीवों का सम्यग्दर्शन सादि अनन्त होता है। 'अन्तर' की अपेक्षा—सम्यग्दर्शन का अन्तर (विरह काल) एक जीव की अपेक्षा जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अर्द्ध पुद्गल परिवर्तन काल (संसार में अनादि काल से जीव का जो नाना गतियों में परिभ्रमण हो रहा है उसी को 'परिवर्तन' कहते हैं इसके पांच भेद हैं, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, और भाव, इनमें से पहले द्रव्य परिवर्तन के काल के आधे भाग को अर्द्धपुद्गल परिवर्तन काल समझना चाहिये। कर्म और नो कर्म के भेद से इस के दो भेद हैं) है। किन्तु नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर काल होता ही नहीं है। अर्थात् जब नाना जीवों की अपेक्षा से सम्यग्दर्शन सदा ही रहता है, तो उसका विरह काल कभी भी नहीं रह सकता है। हां, एक जीव की अपेक्षा विरह काल हो सकता है। क्योंकि वह उत्पन्न होकर छूट भी जाता है। उत्पन्न होकर छूट भी जाय और फिर वही उत्पन्न हो, उसके मध्य में जितना काल लगता है, उसको 'विरह काल' कहते हैं। अतः एक जीव के सम्यग्दर्शन का विरह-काल कम से कम अन्तर्मुहूर्त और अधिक से अधिक अर्द्ध पुद्गल परिवर्तन काल है। 'भाव' की अपेक्षा—औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक, और पारणामिक, इन पांच भावों में से औदयिक और पारणामिक भावों को छोड़ कर शेष तीनों ही भावों में सम्यग्दर्शन रहा करता है। अर्थात् सम्यग्दर्शन कभी औपशमिक, कभी क्षायिक, और कभी क्षायोपशमिक, रूप से पाया जाता

है '*अल्प बहुत्व' की अपेक्षा–औपशमिकसम्यग्दर्शनकीसंख्या सब से कम है। उससे असंख्यात गुणी क्षायिक सम्यग्दर्शन की संख्या है, और उससे भी असंख्यात गुणी क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन की संख्या है, परन्तु सम्यग्दृष्टियोंकी संख्या (सिद्धोंकी अपेक्षा) अनन्त गुणी है। उपर्युक्त सभी अनुयोग द्वारों से विस्तार पूर्वक अधिगम किया हुवा, 'तत्वार्थ श्रद्धान' ही सम्यग्दर्शन का लक्षण समझना चाहिये। सातवें 'सूत्र' में बतलाये हुये निर्देशादिक छह, और इस आठवें 'सूत्र' में कहे सत् संख्यादिक आठ, इन दोनों ही प्रकार के अनुयोगों से किसी भी विषय का व्याख्यान करते, या लिखते, समय इनका उपयोग भले प्रकार किया जा सकता है।

इस प्रकार अनुयोग द्वारों का स्वरूप बताया। सम्यग्दर्शनादिक तथा उसके विषय भूत जीवादिक सभी पदार्थों का नाम, स्थापना, आदि के द्वारा विधि पूर्वक व्यवहार करके प्रमाण, नय, आदि उपर्युक्त अनुयोगों के द्वारा अधिगम प्राप्त करना चाहिये। क्यों कि बिना इन अनुयोगों के प्रयोग किये पदार्थों का स्वरूप विदित नहीं हो सकता। पदार्थों के स्वरूप को बिना जाने श्रद्धान भी ठीक नहीं होता।

अब सम्यग्दर्शन का प्रकरण समाप्त करके क्रमानुसार सम्य-

---

* किसी पर्याप्त तिर्यंच के, देव तथा नारकी के, क्षायिक सम्यक्त का प्रारम्भ नहीं होता। किन्तु पर्याप्त मनुष्यों के तीनों ही सम्यक्त हो सकते हैं। अपर्याप्त मनुष्यों के क्षायोपशमिक और क्षायिक सम्यक्त ही होते हैं। पर्याप्त मनुष्यणी के तीनों सम्यक्त होते हैं। परन्तु क्षायिक सम्यक्त भाव स्त्री के होता है, द्रव्य स्त्री के नहीं होता है। अपर्याप्त स्त्री के कोई सम्यक्त नहीं होता। दर्शन मोह का क्षपण (नाश) केवली अथवा श्रुतकेवली के निकट चौथे, पांचवें, छट्ठे, और सातवें, इन चार गुणस्थानों में होता है।

ज्ञान का वर्णन करने के लिये सूत्र कहते हैं—

मति श्रुतावधिमनः पर्यय केवलानि ज्ञानम् ॥६॥

सूत्रार्थः—(मति श्रुतावधिमनः पर्यय केवलानि) मति, श्रुत, अवधि, मन पर्यय, और केवल, ये पांच प्रकार के (ज्ञानं) ज्ञान हैं। ये पांच भेद सम्यग्ज्ञान के हैं।

विशेषार्थः—वाह्य और अन्तरंग दोनों निमित्तों के मिलने पर चेतना गुण का जो साकार परिणमन होता है, उसको 'ज्ञान' कहते हैं। सामान्य से उसके ये पांच भेद हैं—मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से, एवं इन्द्रिय और मन की सहायता से, पदार्थों के जानने को 'मतिज्ञान' कहते हैं। श्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से मतिज्ञान के द्वारा जाने हुये पदार्थ से सम्बन्ध लिये हुये किसी दूसरे पदार्थ के ज्ञान को 'श्रुतज्ञान'† कहते हैं।

---

† श्रुतज्ञान (शास्त्रों) के पूर्ण ज्ञाता श्रुतकेवली होते हैं। श्रुतकेवली और केवलज्ञानी ज्ञान की दृष्टि से दोनों समान हैं। अन्तर इतना ही है कि श्रुतज्ञान परोक्ष और केवलज्ञान प्रत्यक्ष है। केवली जितना जानते हैं, उसका अनन्तवां भाग वे कह सकते हैं, और जितना वे कहते हैं उसका अनन्तवां भाग शास्त्रों में लिखा जाता है। इसलिये केवल ज्ञान से श्रुतज्ञान अनन्तवें भाग का भी अनन्तवां भाग है। सामान्यतः श्रुत केवली छट्टे, सातवें गुणस्थानवर्ती और केवली भगवान् तेरहवें गुणस्थानवर्ती होते हैं। श्रुत केवली को केवलज्ञानी-पद पाने के लिये आठवें गुणस्थान से बारहवें गुणस्थानतक एक श्रेणी चढ़ना पड़ती है। श्रुतकेवली चौदह पूर्व के पाठी होते हैं। महावीर भगवान् के निर्वाण के पश्चात् गौतम, सुधर्मा, और जम्बूस्वामी, ये तीन केवलज्ञानी हुये हैं। जम्बूस्वामी के निर्वाण के बाद विष्णु, नन्दि, अपराजित, गोवर्धन, और भद्रबाहु, ये पांच श्रुतकेवली हुये हैं।

अवधि ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भाव की मर्यादा लिये हुये रूपी पदार्थ के स्पष्ट जानने को 'अवधिज्ञान' कहते हैं। मन:पर्यय ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की मर्यादा लिये हुए दूसरे के मन में तिष्ठते हुये रूपी पदार्थ के स्पष्ट जानने को 'मनः पर्यय ज्ञान' कहते हैं। केवल ज्ञानावरण कर्म के क्षय से त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों को युगपत् (एक साथ) स्पष्ट जानने को 'केवल ज्ञान' कहते हैं।

ज्ञान के ये पांच भेद आवरण कर्म की अपेक्षा से हैं, ज्ञानावरण कर्म पांच प्रकार का होता है। ज्ञान के ये पांच भेद स्थूल दृष्टि से समझना चाहिये। ज्ञान की उत्कृष्ट सीमा (केवलज्ञान) भी अविनासी होती है, और ज्ञान की कम से कम सीमा (अक्षर के अनन्तवें भाग प्रमाण) भी अविनाशी होती है। केवलज्ञान उन्नति की अपेक्षा सर्वोत्कृष्ट निरावरण ज्ञान है, और अक्षर के अनन्तवें भाग प्रमाण सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्य पर्याप्त जीव का ज्ञान अवनति की अपेक्षा से अविनासी और निरावरण ज्ञान है। उपर्युक्त पांच प्रकार के ज्ञानों में अन्त का केवलज्ञान क्षायिक ज्ञान है। और आदि के चार ज्ञान क्षायोपशमिक ज्ञान है। इन पांचों ज्ञानों का अगाड़ी स्वतन्त्र रूप से विस्तार पूर्वक व्याख्यान किया जायगा। ये पांचों ही प्रकार के ज्ञान प्रमाण हैं, और परोक्ष एवं प्रत्यक्ष इन दो भागों में विभक्त (बटे हुये) हैं। यही दिखाने के लिये सूत्र कहते हैं—

तत्प्रमाणे ॥१०॥

सूत्रार्थः—(तत्) ऊपर कहा हुआ पांच प्रकार का ज्ञान सो ही (प्रमाणे) प्रमाण रूप है। तथा उसके परोक्ष और प्रत्यक्ष ये दो भेद हैं।

विशेषार्थ:—उपर्युक्त पांच ज्ञानों में से मति ज्ञान, श्रुतज्ञान, को परोक्ष, और अवधि, तथा मन:पर्यय ज्ञान, को एकदेश प्रत्यक्ष, एवं केवल ज्ञान को सकल प्रत्यक्ष कहा गया है। इसका प्रयोजन यह नहीं है, कि केवल ज्ञान के अतिरिक्त अन्य ज्ञानों में निर्मलता कम है? निर्मलता तो सब में एकसी है, परन्तु अवधि मन:पर्यय ज्ञान सब द्रव्यों और पर्यायों को नहीं जानते, इसलिये 'देश प्रत्यक्ष' कहलाते हैं। प्रत्येक ज्ञान के विषय की जितनी और जैसी सीमा है, वह उस सीमा के भीतर निर्मल है। सीमा के भीतर की निर्मलता की दृष्टि से सब ज्ञानों की निर्मलता समान है। इस प्रकार पांच ज्ञानों को यदि प्रमाण के भेद कहें, तो अनुचित नहीं है। मतिज्ञान आदि चारों ज्ञान क्षयोपशम ज्ञान हैं, केवलज्ञान क्षायिक ज्ञान है। इस लिये जहां केवल ज्ञान प्रगट हो जाता है, वहां ज्ञान का पूर्ण विकाश हो जाता है। उस दशा में क्षयोपशम ज्ञानों की स्वतंत्र सत्ता नहीं रहती है।

सम्यग्ज्ञान को 'प्रमाण' कहते हैं। और अज्ञान की निवृत्ति रूप ज्ञान को प्रमाण कहा गया है। अथवा सम्यक् प्रकार के अर्थ के निर्णय करने को प्रमाण कहते हैं। प्रमाण सर्व नय रूप होता है। नय वाक्यों में 'स्यात्' पद लगा कर बोलने को प्रमाण कहते हैं। जिस प्रकार रसों के संयोग से लोहा भी अभीष्ट फल का देने वाला बन जाता है, इसी प्रकार नयों में 'स्यात' पद लगाने से नय, इष्ट फल को देते हैं। सांव्यवहारिक और पारमार्थिक के भेद से प्रमाण के दो भेद शास्त्रों में बतलाये गये हैं।

संशय, विपर्यय, और अनध्यवसाय, से रहित जो ज्ञान होता है, उसको 'सम्यग्ज्ञान' कहते हैं। विरुद्ध अनेक कोटियों में रहने वाले ज्ञान को 'संशय' कहते हैं? जैसे सीप है या चांदी। विपरीत

एक कोटी के निश्चय करने वाले ज्ञान को 'विपर्यय' कहते हैं, जैसे सीप को चांदी जान लेना।

'यह क्या है' ? ऐसे प्रतिभास को 'अनध्यवसाय' कहते हैं। जैसे मार्ग में जाते हुये तृण आदि का ज्ञान। प्रमाण के विषय में अनेक सिद्धान्त वालों के भिन्न भिन्न प्रकार के मत हैं। कोई सन्निकर्ष (पदार्थ और इन्द्रियों का जो संबन्ध हो जाता है, उसको 'सन्निकर्ष' कहते हैं) को प्रमाण मानते हैं। कोई 'निर्विकल्प दर्शन' को ही प्रमाण मानते हैं। और कोई 'वेद' को प्रमाण मानते हैं। इत्यादि अनेक प्रकार की कल्पनायें प्रमाण के विषयमें की गई हैं। ये सब कल्पनायें प्रमाण के फल (अज्ञान की निवृत्ति) सिद्ध करने में सर्वथा असमर्थ हैं। अतएव जैनाचार्यों ने प्रमाण का निर्दोष लक्षण सम्यग्ज्ञान बतलाया है। वस्तुतः प्रमाण का यही लक्षण निर्दोष है।

लक्षण के तीन दोष होते हैं, अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, असंभव। लक्ष्य के एक देश में लक्षण के रहने को 'अव्याप्ति दोष' कहते हैं, जैसे पशु का लक्षण सींग। लक्ष्य (जिसका लक्षण किया जाय) और अलक्ष्य में लक्षण के रहने को 'अतिव्याप्ति दोष' कहते हैं। जैसे गौ का लक्षण सींग। लक्ष्य में लक्षण की असंभवता को 'असंभव दोष' कहते हैं। जैसे गधे का लक्षण सींग। जिस लक्षण में इन तीन दोषों में से कोई भी दोष हो, वह लक्षण सदोष होता है। प्रमाण का सम्यग्ज्ञान लक्षण इन तीनों प्रकार के दोषों से सर्वथा रहित होने के कारण यही लक्षण निर्दोष है।

अब क्रमानुसार पहले परोक्ष प्रमाण का स्वरूप और उसके भेद दिखाने के लिये सूत्र कहते हैं—

आद्ये परोक्षम् ॥ ११ ॥

सूत्रार्थः—(आद्ये) आदि के दो मति ज्ञान और श्रुतज्ञान (परोक्षं) परोक्ष प्रमाण हैं ॥ १ ॥

विशेषार्थः—जिस ज्ञान की उत्पत्ति में आत्मा से भिन्न पर वस्तु की अपेक्षा हो, उसको 'परोक्ष' कहते हैं। मतिज्ञान§ और श्रुतज्ञान में इन्द्रिय व मन की (जो कि आत्मा से भिन्न पुद्गल रूप है) सहायता होती है। अतएव इन दोनों को 'परोक्ष' कहते हैं। विशेषता यह है, कि इनमें से मतिज्ञान में तो इन्द्रिय और मन दोनों ही निमित्त होते हैं, परन्तु श्रुतज्ञान में मात्र मन ही निमित्त‡ होता है। किन्तु वह मतिज्ञान पूर्वक ही होता है, अतएव उसमें उपचार से इन्द्रियां भी निमित्त होती हैं। जैसे कि शब्द सुनने में कर्ण इन्द्रिय निमित्त है, और सुनने मात्र को 'मतिज्ञान' कहते हैं। सुने हुये शब्द के विषय में अर्थान्तर के विचार करने को 'श्रुतज्ञान' कहते हैं। इसमें मुख्यतया मन ही निमित्त होता है। परन्तु उपचार से कर्ण इन्द्रिय को भी निमित्त कह सकते हैं। क्योंकि विना सुने विचार नहीं हो सकता। इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिये। परन्तु एकेन्द्रियादि जीवोंका श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक भी होता है। अत एव उसमें इन्द्रियां भी निमित्त होती हैं, किन्तु शास्त्रीय श्रुतज्ञान मन से ही होता है। और वह सैनी पंचेन्द्रिय के ही हो सकता है।

मन रहित जीवों के मतिज्ञान की उत्पत्ति केवल किसी एक २ इन्द्रिय द्वारा ही होती है, किन्तु जिन जीवों के मन होता है, उन को मन की भी सहायता हो जाया करती है। पहले समय में होने

§ इन्द्रियानिन्द्रियेभ्यश्च मतिज्ञानं प्रवर्तते ॥ २० ॥ तत्वार्थसारे।

‡ मतिज्ञान मिन्द्रियानिन्द्रिय निमित्तमिति वक्ष्येत। श्रुतमनिन्द्रियस्येति च। स० सि०

वाला पदार्थ का दर्शन केवल सत्ताग्राहक होता है, इसलिये उसको 'निर्विकल्प ज्ञान' भी कह सकते हैं। परन्तु जैन सिद्धान्त में इस प्रकार के सामान्याकार प्रतिभास के लिये 'ज्ञान' शब्द का प्रयोग न करके उसको 'दर्शन' शब्द से सूचित किया है। क्योंकि जिस चेतना में विशेषाकार प्रतिभास जब तक न हो, तब तक ज्ञान की उत्पत्ति भी नहीं मानी गई है। यही कारण है कि ज्ञान को साकार और दर्शन को निराकार कहा गया है। दर्शन होने के बाद जो अवस्थायें क्रमशः होती हैं,उनको मतिज्ञान के भेदों में प्रगट करेंगे। मतिज्ञान के अनेक भेद हैं। श्रुतज्ञान अंग प्रविष्ट और अंग बाह्य के भेद से दो प्रकार का होता है। इस प्रकार मति और श्रुतज्ञान इन्द्रियादि की सहायता से पदार्थों को जानते हैं, और दोनों ज्ञान परोक्ष होकर भी स्वानुभूति के समय प्रत्यक्ष माने गये हैं। अन्य समय में नहीं? जैसा कि पंचाध्यायीकार ने कहा है—

अपि किं वाभिनिबोधिकं बोध द्वैतं तदादिमं यावत्।

स्वात्मानुभूति समये प्रत्यक्षं तत्समक्षमिव नान्यत् ॥७०६॥

इन दोनों (मति और श्रुत) के परोक्ष कहने का मतलब यह है,कि ये दोनों ही ज्ञान पर की सहायता से उत्पन्न होते हैं। इन्द्रिय और मन की सहायता के अतिरिक्त प्रकाश आदि बाह्य कारणों की भी अपेक्षा रखते हैं। यदि प्रकाश न हो तो नेत्र देख नहीं सकते हैं। प्रकाश होने पर भी यदि दीवार या अन्य पदार्थ रुकावट करदे, तो भी ज्ञान नहीं हो सकता। सारांशतः ये दोनों ही ज्ञान इतने पराधीन हैं,कि इनकी उत्पत्ति में दूसरे पदार्थों से यदि सहायता न मिले तो ये उत्पन्न नहीं हो सकते, इनको परोक्ष कहने का भी यही अभिप्राय है। 'परोक्ष' शब्द में दो शब्द हैं, 'पर' और 'अक्ष',

इन दोनों के संयोग से 'परोक्ष' शब्द बना है । 'पर' कहते हैं दूसरे को, और 'अक्ष' कहते हैं 'आत्मा' को, अर्थात् जिस ज्ञान के होने में आत्मा को दूसरे पदार्थों से सहायता लेना पड़े उस ज्ञान को 'परोक्ष ज्ञान' कहते हैं। परोक्ष ज्ञान के स्मृति,प्रत्यभिज्ञान, ऊहा या तर्क, अनुमान और आगम ये पांच भेद हैं। इनका वर्णन इस प्रकार है—

पहले जाने हुये पदार्थ के याद आने को 'स्मृति' कहते हैं। धारणा के बिना स्मृति नहीं हो सकती। क्योंकि धारणा ज्ञान आत्मा में ऐसा संस्कार पैदा कर देता है,कि जिसके कारण किसी निमित्त के मिलने पर पिछली बात का स्मरण हो जाता है। इसमें दूसरे (धारणा) ज्ञान को सहायता सिद्ध होती है,इसीलिये यह परोक्ष है।

स्मृति और अनुभव के मिलने से जो जोड़ रूप ज्ञान होता है, उसे 'प्रत्यभिज्ञान' कहते हैं। जैसे यह वही मनुष्य है जिसे कल देखा था। यहां पर वर्तमान में उस मनुष्य का प्रत्यक्ष हो रहा है, और कल का स्मरण है। इन दोनों के मिलने से प्रत्यभिज्ञान एक तीसरा ही ज्ञान उत्पन्न हुआ है। प्रत्यभिज्ञान के एकत्व, सादृश्य, और वैसादृश्य आदि अनेक भेद हैं। प्रत्यभिज्ञान के इन तीनों भेदों का स्वरूप इस प्रकार है—

१. स्मृति और प्रत्यक्ष के विषय भूत पदार्थ में एकत्व दिखाते हुये जोड़ रूप ज्ञान को 'एकत्व प्रत्यभिज्ञान' कहते हैं। जैसे- यह वही मनुष्य है जिसे कल देखा था। २. स्मृति और प्रत्यक्ष के विषयभूत पदार्थों में सादृश्य दिखाते हुये जोड़ रूप 'सादृश्यप्रत्यभिज्ञान' कहते हैं। जैसे-यह गौ गवय (रोझ के) सदृश्य है। ३. जिसके द्वारा दो पदार्थों की विसदृशता जानी जाती है, उसे 'वैसादृश्य-प्रत्यभिज्ञान' कहते हैं जैसे-घोड़ा, हाथी से विलक्षण है।

गाय भैंस से विलक्षण है इत्यादि ।

इसके सिवाय दो पदार्थों की तुलना भी प्रत्यभिज्ञान के द्वारा की जाती है जैसे—आंवला आम से छोटा है । इसमें आंवला प्रत्यक्ष है, और आम स्मृति का विषय है । यद्यपि दोनों ही वस्तुयें आंखों के सामने हैं, परन्तु जिस समय हम तुलना करते हैं, उस समय एक ही चीज प्रत्यक्ष का विषय रह जाती है । तुलनात्मक ज्ञान आंखों का विषय नहीं, किन्तु विचारने का विषय है, अतएव यह परोक्ष है । किसी का पहचानना भी प्रत्यभिज्ञान का कार्य है, क्योंकि इसमें उसके चिन्हों का स्मरण होता है । और साथ में विचार करने की भी आवश्यकता होती है । व्याप्ति (अविनाभाव संबन्ध) के ज्ञान को 'तर्क' कहते हैं । और अन्वय व्यतिरेक को व्याप्ति कहते हैं । साधन के होने पर साध्यका होना, 'अन्वय' है और साध्य के न होने पर साधन का न होना, 'व्यतिरेक' है । जैसे—जहां जहां धूम है, वहां वहां अग्नि है, और जहां जहां अग्नि नहीं है, वहां वहां धूम भी नहीं है । साधनसे साध्य के ज्ञान को 'अनुमान' कहते हैं । जैसे—धूम को देखकर अग्नि का ज्ञान होना । यहां पर धूम साधन है, और अग्नि साध्य है । जिस चीज को हम सिद्ध करना चाहते हैं उसे 'साध्य' कहते हैं । ऊपर के अनुमान में हम अग्नि को सिद्ध करना चाहते हैं, इसलिये वह साध्य कहलायी । जो साध्यके बिना न होवे वह 'साधन' कहलाता है । धूम से अग्नि को सिद्ध करना है, तो धूम साधन समझना चाहिये । अनुमानके पांच अंग होते हैं—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, निगमन । पक्ष और साध्य के कहने को 'प्रतिज्ञा' कहते हैं । जैसे—इस पर्वत में अग्नि है । साधनके वचन को 'हेतु' कहते हैं । जैसे-क्योंकि यह धूमवान् है । व्याप्ति पूर्वक दृष्टान्त के कहने

को 'उदाहरण' कहते हैं। जैसे—जहां२ धूम है, वहां२ अग्नि है, जैसे-रसोई घर। और जहां २ अग्नि नहीं है, वहां २ धूम भी नहीं है, जैसे-तालाब। पक्ष‡ और साधन में दृष्टान्त की सदृशता दिखाने को 'उपनय' कहते हैं। जैसे-यह पर्वत भी वैसा ही धूमवान् है। नतीजा निकाल कर प्रतिज्ञा के दुहराने को 'निगमन' कहते हैं। जैसे-इस लिए यह पर्वत भी अग्निवान् है। किसी प्रामाणिक (आप्त) पुरुष के वचन आदि से जो ज्ञान होता है, उसे 'आगम' कहते हैं। वीतरागी (राग द्वेषरहित) सर्वज्ञ, (पूर्ण ज्ञानी) और हितोपदेशी* (सत्य और हितकारी वचन बोलने वाला) को 'आप्त' कहते हैं।

स्मृति से लेकर आगम तक सभी ज्ञान, परोक्ष प्रमाण के भीतर शामिल किये जाते हैं इस लिए प्रत्यक्ष और परोक्ष इन दो भेदों में सम्पूर्ण प्रमाणों का संग्रह होजाता है। प्रमाणों के विषय में विशेष जानकारी प्राप्त करने के लिए अन्य न्याय शास्त्रों का अवलोकन करना चाहिये। विस्तार भय से यहां पर इस विषय का विशेष कथन नहीं किया है। ऊपर के कथन से परोक्ष प्रमाण के विषय में इतना तो मालूम हो जाता है, कि यह परोक्ष ज्ञान इन्द्रिय आदि की सहायता से होता है, अतएव पराधीन है।

अब प्रमाण और उसके भेदों के वर्णनार्थ सूत्र कहते हैं —

प्रत्यक्ष मन्यत् ॥१२॥

सूत्रार्थः—(अन्यत्) बाकी के अवधि, मनःपर्यय, और केवल-

---

* परमेष्ठी परंज्योति विरागो विमलः कृती।
सर्वज्ञो ऽनादि मध्यान्तः सार्वः शास्तोपलाल्यते ॥ र. क. श्रा.

‡ जहां साध्य के रहने का शक हो, उसको 'पक्ष' कहते हैं।

ज्ञान (प्रत्यक्षं) प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। इनमें अवधि, मनःपर्यय ज्ञान, देश प्रत्यक्ष, और केवल ज्ञान सर्वदेश प्रत्यक्ष है। सामान्यतः तीनों ही ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाते हैं।

विशेषार्थः—जिन के द्वारा पदार्थों को भले प्रकार से जाना जाय, उनको 'प्रमाण' कहते हैं। उसी के प्रत्यक्ष और परोक्ष ये दो भेद हैं। 'अक्ष' नाम आत्मा का है, जो ज्ञान आत्मा की अपेक्षा लेकर उत्पन्न हो, उसको 'प्रत्यक्ष' कहते हैं। 'प्रत्यक्ष' शब्द 'प्रति' और 'अक्ष' इन दो शब्दों के मिलाने से बना है। अर्थात् जो आत्मा के प्रति हो, जिस ज्ञान के उत्पन्न होने में आत्मा को दूसरे पदार्थों से सहायता न लेनी पड़े, उसको 'प्रत्यक्ष' समझना चाहिये। प्रत्यक्ष ज्ञान के सामान्यतः दो भेद हैं—एक देश प्रत्यक्ष, दूसरा सर्वदेश प्रत्यक्ष। अवधि, मनःपर्यय ज्ञान को 'देश प्रत्यक्ष' कहते हैं। क्योंकि इन दोनों का विषय परिमित और अपरिपूर्ण है। केवल ज्ञान सर्वदेश प्रत्यक्ष है। क्योंकि वह समस्त त्रैकालिक वस्तुओं को, और उनकी अनन्तानन्त अवस्थाओं को युगपत् (एक साथ) विषय करने वाला, एवं नित्य है। इसके अतिरिक्त मतिज्ञान को भी उपचार से प्रत्यक्ष (सांव्यवहारिक) कहा गया है। श्रुत ज्ञान की अपेक्षा इसमें अधिक निर्मलता रहती है। मुख्यतः वह परोक्ष ही है।

अवधि, मनःपर्यय, और केवल ज्ञान, ये प्रत्यक्ष के समीचीन भेद हैं। अर्थात् ये अतीन्द्रिय ज्ञान हैं। अतएव इनके प्रमाण होने में कोई सन्देह नहीं है। अवधि, मनःपर्यय, में जितने अंश निर्मलता और असहायता के हैं, उतने ही वे प्रत्यक्ष हैं, और जितने अंशों में मलिनता और सहायता वास करती है, उतने अंशों की अपेक्षा उनको परोक्ष समझना चाहिये। यही कारण है कि

आचार्यों ने इन दोनों ही ज्ञानों को देश प्रत्यक्ष कहा है।

पंचाध्यायीकार ने मति और श्रुत ज्ञान की तरह अवधि और मनःपर्यय इन दोनों ज्ञानों को भी परोक्ष माना है। क्योंकि ये दोनों ज्ञान भी छद्मस्थ अवस्था में होते हैं, और आवरण तथा इन्द्रियों की अपेक्षा रखते हैं, इस लिए वास्तव में ये दोनों ज्ञान भी परोक्ष हैं। किन्तु विवक्षा वश केवल उपचार से देश प्रत्यक्ष कहा है। जिसका कारण यह बताया है, कि जिस प्रकार मति और श्रुत ज्ञान इन्द्रियों से उत्पन्न तथा अवग्रह, ईहा, आवाय, तथा धारणा, पूर्वक होते हैं, उस तरह अवधि, तथा मनः पर्यय ज्ञान इन्द्रियों से उत्पन्न नहीं होते, एवं इनमें अवग्रहादिक का भी क्रम नहीं होता है। किन्तु वे लीला मात्र में सिर्फ मन की सहायता से दूरवर्ती पदार्थों को प्रत्यक्ष जान लेते हैं। वस्तुतः ये प्रत्यक्ष नहीं किन्तु परोक्ष ही हैं। पंचाध्यायीकारने मनःपर्यय ज्ञान में भी मन की सहायता मानकर, मनः पर्यय ज्ञान मन की सहायता‡ से उत्पन्न होता है, इसलिये देश कहलाता है, और शेष इन्द्रियों की सहायता से नहीं होता है, इस लिये प्रत्यक्ष कहलाता है, ऐसा लिखा है। अर्थात् मनःपर्यय ज्ञान, मन सम्बन्धी सहायता लेने की अपेक्षा से देश, और इन्द्रियों की सहायता न होने की अपेक्षा से प्रत्यक्ष कहलाता हुआ, दोनों अपेक्षाओं की दृष्टि से उसको देश

‡ इस विषय में ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद जी की सम्मति है कि, मनः पर्यय ज्ञान मन द्वारा नहीं होता, किन्तु द्रव्य मन के स्थान पर मनः पर्यय ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होता है, और उन (क्षयोपशम से युक्त) शुद्धात्म प्रदेशों से प्रत्यक्ष मनः पर्यय ज्ञान उत्पन्न होता है, अतएव यह अतीन्द्रिय और प्रत्यक्ष ज्ञान ही है।

प्रत्यक्ष † कहते हैं। इस प्रकार पांच प्रकार के ज्ञानों को परोक्ष और प्रत्यक्ष प्रमाण में इस प्रकार विभक्त कर लेना चाहिये।

अब परोक्ष प्रमाण के भेदों में, प्रथम मतिज्ञान का और उस के भेदों का विशेष वर्णन करने के लिये सूत्र कहते हैं—

मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताभिनिवोध इत्यनर्थान्तरम् ॥१३॥

सूत्रार्थः—(मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताभिनि बोधः) मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता, और अभिनिबोध (इति) इनको आदि लेकर प्रतिभा, बुद्धि, उपलब्धि इत्यादि सब (अनर्थान्तरम्) मति-ज्ञान के ही अर्थ भेद रहित नामान्तर अर्थात् पर्याय वाचक दूसरे नाम हैं।

विशेषार्थः—मति, स्मृति आदिक उपर्युक्त पांचों ही ज्ञान मतिज्ञान के ही भेद हैं, क्योंकि मतिज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होने से उत्पन्न होते हैं, अतएव इनको एक ही अर्थ का वाचक समझना चाहिये। परन्तु ये भिन्न २ विषय के प्रतिपादक हैं, और इनका व्युत्पत्ति सिद्ध अर्थ भी भिन्न२ है,इसीलिये इनके लक्षण भी पृथक्

---

† छद्मस्थावस्थाया मावरणेन्द्रिय सहायसापेक्षम्।
यावत् ज्ञान चतुष्टय मर्थात् सर्वं परोक्ष मिव वाच्यम् ॥७०१॥
अवधि मनःपर्यय विद्वैतं प्रत्यक्ष मेक देशत्वात्।
केवल मिद मुपचारा दथच विवक्षावशा न्न चान्वर्थात् ॥७०२॥
तत्रोपचार हेतुर्यथा मतिज्ञान मक्षजं नियमात्।
अथ तत्पूर्वं श्रुतमति न तथावधि चित पर्ययं ज्ञानम् ॥७०३॥
यत्स्या दवग्रहे हावायानति धारणा परायत्तम्।
आद्यं ज्ञानं द्वयमिह यथा तथा नैव चान्तिमं द्वैतम् ॥७०४॥
दूरस्था नर्थानिह समक्षमिव वेत्ति हेलया यस्मात्।
केवल मेव मनः स्यादवधिः मनः पर्यय द्वयं ज्ञानम् ॥७०५॥

पृथक् हैं। वास्तव में अनुभव, (मति) स्मरण, प्रत्यभि ज्ञान, तर्क और अनुमान, ही के ये क्रम से पर्याय वाचक नाम हैं। इन पांचों का पीछे ग्यारहवें 'सूत्र' में परोक्ष प्रमाण के भेदों में खुलासा वर्णन कर आये हैं।

इन्द्रिय और मन के निमित्तसे किसी भी पदार्थ का जो प्रथम ज्ञान होता है, उसका 'अनुभव या मति' कहते हैं। कालान्तर में उस जाने हुये पदार्थ का स्मरण होना, इसको 'स्मरण या स्मृति' कहते हैं। अनुभव और स्मृति के जोड़ रूप ज्ञानको 'संज्ञा अथवा प्रत्यभिज्ञान' कहते हैं। साध्य और साधनके अविनाभाव सम्बन्ध रूप व्याप्ति के ज्ञान को 'चिन्ता ऊहा अथवा तर्क' कहते हैं। साधन के द्वारा जो साध्य का ज्ञान होता है, उसको 'अभिनिबोध अथवा अनुमान' कहते हैं। इनमें से मति ज्ञान में प्रत्यक्ष का, और प्रत्यभिज्ञान (संज्ञा) में उपमान का, एवं अनुमान में अर्थापत्ति का, अंतर्भाव समझना चाहिये।

सारांशतः जिस प्रकार †इन्द्र, §शक्र, ‡पुरन्दर, पृथक् २ क्रियाओं की अपेक्षा से तथा अपने २ व्युत्पत्ति सिद्ध अर्थ की दृष्टि से भले ही भिन्न २ अर्थ के द्योतक हों, परन्तु वे तीनों ही एक शचीपति के ही पर्यायवाचक नाम हैं। उसी प्रकार मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता, और अभिनिबोध, भी भिन्न २ अर्थ के बोधक होने पर भी एक मात्र मति ज्ञान के ही नामान्तर (पर्याय वाचक) हैं, क्योंकि वे सब मति ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से ही उत्पन्न होते हैं। इनके सिवाय प्रतिभा, बुद्धि, और उपलब्धि आदि भी मतिज्ञान ही हैं।

---

† ऐश्वर्य क्रिया युक्त। § शक्ति रूप क्रिया युक्त।

‡ पुर का विदारण करने वाला।

अब मति ज्ञान की उत्पत्ति किन २ कारणों से होती है। इसी बात को प्रगट करने के लिये सूत्र कहते है —

तदिन्द्रियानिन्द्रिय निमित्तम् ॥ १४ ॥

सूत्रार्थः— (तत्) वह मतिज्ञान (इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम्) वाह्य में पांच इन्द्रिय, और मन के निमित से होता है। इसलिये निमित कारण की अपेक्षा मति ज्ञान भी इन्द्रिय निमित्तक, और अनिन्द्रिय निमित्तक दो तरह का होता है। किन्तु अन्तरंग में मति ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम इसका कारण है।

विशेषार्थ:-ज्ञानावरणादि कर्मों से आच्छादित रहने के कारण जब आत्मा स्वयं पदार्थों को नहीं जान सकता, उस समय उसे पदार्थों के जनावने में जो कारण हों उसको 'इन्द्रिय' कहते हैं। अथवा जो इन्द्र के समान हो, उसको इन्द्रिय कहते हैं। जिस प्रकार अहमिन्द्र अपने २ विषयों में दूसरे की अपेक्षा न रखने से अर्थात् स्वतंत्र होने से अपने २ को इन्द्र मानते हैं, उसी प्रकार स्पर्शनादिक इन्द्रियां भी अपने २ स्पर्शादिक विषयोंमें दूसरे की (रसना आदि की) अपेक्षा न रखकर स्वतंत्र हैं। अतएव, इन्द्रियों को इन्द्र (अहमिन्द्र) के समान स्वतंत्र समझना चाहिये। इन्द्रियों के स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, और कर्ण, इस प्रकार पांच भेद हैं। अन्त:करणको 'मन' कहते हैं, अर्थात जिसके द्वारा हिताहित और हेयोपादेय का विचार हो। जो जीव मन रहित हैं, उनका मति-ज्ञान सिर्फ इन्द्रियों से ही उत्पन्न होता है। मनसहित जीवों क उस में मन भी स्वतंत्र कारण हो जाता है। इन्दियों की अपेक्षा से एकेन्द्रियादि जीवों का मति ज्ञान उत्तरोत्तर अधिक २ होता जाता है। जो एकेन्द्रिय जीव का मतिज्ञान है, उस से दो इन्द्रिय का

अधिक होता है। इसी प्रकार आगे भी समझना चाहिये। असैनी पंचेन्द्रिय से सैनी पंचेन्द्रिय का ज्ञान अधिक होता है। सैनी जीवों में भी पशुओं की अपेक्षा मनुष्यादि में अधिक ज्ञान होता है। भिन्न २ जीवों की अपेक्षा मति ज्ञान भी भिन्न भिन्न प्रकार का समझना चाहिये। इस ज्ञान की उत्पत्ति में इन्द्रिय और मन के अतिरिक्त प्रकाश आदि अन्य वाह्य कारण भी सहायक होते हैं।

मति ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होने पर भी प्रकाश आदि वाह्य कारणों की अपेक्षा से ज्ञान की उत्पत्ति में बाधा भी पड़ जाती है, यही कारण है कि इस ज्ञान को पराधीन माना है। मति ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम की अपेक्षा मतिज्ञान के अपरिमित भेद हो सकते हैं। क्योंकि सभी जीवों के मति ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम भिन्न २ प्रकार का होता है। जीव अनन्त हैं, तो जीवों की अपेक्षा कर्म का क्षयोपशम भी अनन्त प्रकार का हुवा। इसीलिये एक जीव का ज्ञान दूसरे जीव के ज्ञान से नहीं मिलता। परीक्षा में सभी विद्यार्थी उत्तीर्ण (पास) होते हैं, परन्तु सबका ज्ञान पृथक् २ है। बल्कि समान अंकों (नंबरों) से पास होने वाले छात्रों की योग्यता में भी पारस्परिक असमानता देखी जाती है। इस असमानता का कारण उनके कर्म के क्षयोपशम सम्बन्धी भिन्नता ही समझनी चाहिये। जितने क्षयोपशमज्ञान हैं, वे सभी नाना जीवों की क्षयोपशम की अपेक्षा से नाना प्रकार के होते हैं। केवल ज्ञान ही सिर्फ ऐसा ज्ञान है, जो सभी केवलियों के समान रूप से होता है। उसमें हीनाधिकता नहीं होती। क्योंकि यह ज्ञान क्षयोपशम ज्ञान नहीं है। बल्कि क्षायिक ज्ञान है। इस ज्ञान में हीनाधिकता का कारण कर्म का क्षयोपशम नहीं है। इस ज्ञानमें ज्ञान के प्रतिपक्षी ज्ञानावरण कर्म का सर्वथा अभाव (क्षय)

होगया है। अतएव यह पूर्ण निर्मल क्षायिक ज्ञान है।

इस प्रकार उत्पत्ति के निमित्त भेद से मति ज्ञान के भेद बताकर अब उसका स्वरूप अथवा विषय की अपेक्षा से भेद बताने के लिये सूत्र कहते हैं—

अवग्रहेहावाय धारणाः ॥ १५ ॥

सूत्रार्थः—अवग्रह, ईहा, आवाय, और धारणा, ये चार भेद मतिज्ञान के विषय ग्रहण की अपेक्षा से हैं।

विशेषार्थः—ऊपर चौदहवें 'सूत्र' में इन्द्रिय और मन के निमित्त से मति ज्ञान के दो भेद किये थे। उन दोनों के (प्रत्येक के) अवग्रहादिक चार २ भेद हैं।

स्थूल, वर्तमान योग्य क्षेत्र में अवस्थित, (कायम) पदार्थ को 'अभिमुख' कहते हैं। और जैसे चक्षुका विषय 'रूप' निश्चित है, इसी तरह जिस इन्द्रिय का जो विषय निश्चित है, उसको नियमित कहते हैं। कोई भी इन्द्रिय अपने निश्चित विषय के सिवाय अन्य विषय को ग्रहण नहीं कर सकती है, इस तरह (अभिमुख और नियमित) के पदार्थों का ज्ञान पांच इन्द्रिय और मन से होता है, यह 'मतिज्ञान' कहलाता है। इन्द्रिय और मन की अपेक्षा से मतिज्ञान छह प्रकार का भी होता है। इसमें भी प्रत्येक के अवग्रह, ईहा, आवाय और धारणा, ये चार२ भेद होते हैं। प्रत्येक के चार२ भेद हैं, इस लिये छह को चार से गुणा करने से मतिज्ञान के चौबीस भेद हो जाते हैं। अब अवग्रहादि का स्वरूप दिखाते हैं।

जिस समय पदार्थ और इन्द्रियों का आपस में सम्बन्ध होता है, उस समय दर्शन (सत्तामात्रावलोकन) होता है। और उसके पश्चात् ही जो पदार्थ का ग्रहण (विशेषावलोकन) होता है, उसको

अवग्रह* नामक ज्ञान कहते हैं। विशेष ज्ञान शून्य सत्तावलोकन में "कुछ है" मात्र इस प्रकार सत्ता बोध होता है। 'बस' उसके पश्चात् ही यह पदार्थ 'पुरुष है' इस प्रकार के सविकल्प ज्ञान को 'अवग्रह' समझना चाहिये। इसके अर्थावग्रह, और व्यंजनावग्रह, ये दो भेद हैं। जिनका वर्णन आगे चलकर इसी अध्याय में किया जायेगा।

जिस पदार्थ को अवग्रह के द्वारा ग्रहण किया है, उस पदार्थ (मनुष्य) की भाषा, आयु, बोलचाल, रंग रूप, आदि के द्वारा विशेष रूप से जानने की आकांक्षा रूप ज्ञान को 'ईहा'‡ कहते हैं, जैसे 'यह पुरुष है', इस प्रकार का बोध अवग्रह के द्वारा हो चुका था, अब उसकी भाषा, पहनावा, रंग रूप, आदि देख कर यह दक्षिणी है, वा पंजाबी है? इस संशय के बाद दक्षिणी ही होना चाहिये, ऐसा जो एक ओर झुकता हुवा ज्ञान होता है, उसको 'ईहा' समझना चाहिये। ईहा ज्ञान अवग्रह के बिना नहीं होता, अतः अवग्रह के बाद ईहा का उल्लेख किया है। ईहा में अवग्रह का विषय छूटता नहीं है, बल्कि वह ईहा के अन्तर्गत हो जाता है। कोई २ ईहा ज्ञान को संशय ज्ञान समझ कर इसमें शंका करते हैं, उन्हें समझना चाहिये कि संशयज्ञान§ तो दोनों कोटियों में अनिश्चित् ज्ञान है, परन्तु ईहा एक कोटि में अधिक जानने रूप आकांक्षात्मक सम्यग्ज्ञान है। ईहा होने से संशय नष्ट हो जाता है, संशय में दोनों ओर झुकाव रहता है। संशयज्ञान किसी भी पक्ष का निश्चय नहीं कर पाता, इस लिये संशय को मिथ्याज्ञान और

---

* विषयविषयी सन्निपातसमयानन्तरमाद्यग्रहणमवग्रहः। रा० वा०

‡ अवग्रहीतेऽर्थे तद्विशेषेणाकांक्षणमीहा॥ रा० वा०

§ विरुद्धाऽनेककोटिस्पर्शिज्ञानंसंशयः॥

ईहा को सम्यग्ज्ञान समझना चाहिये। क्योंकि ईहा ज्ञान में जिस पदार्थ विशेष का आलम्बन है, उसका उससे निश्चय होता है, और संशय ज्ञान से किसी पदार्थ का निश्चय नहीं होता। फिर ईहा ज्ञान को संशय ज्ञान कैसे कहा जा सकता है? इसी प्रकार ईहाज्ञान को श्रुतज्ञान में भी शामिल नहीं करना चाहिये। क्योंकि श्रुतज्ञान में 'अर्थ से अर्थान्तर का बोध नहीं होता', किन्तु जो अवग्रह का विषय है, वही कुछ विशेष आकांक्षा रूप से ईहा में होता है। दूसरी बात यह है, कि श्रुतज्ञान में मात्र मन कारण पड़ता है, इन्द्रियां कारण नही होती। अर्थात् श्रुतज्ञान का विषय इन्द्रियगोचर नहीं है। और ईहा में दोनों ही कारण होते हैं। और इसी लिये दोनों के सम्बन्ध की अपेक्षा से ही मतिज्ञान के तीनसौ छत्तीस (३३६) भेद माने हैं। जिनका वर्णन बड़ी टीकाओं से जानना चाहिये।

जब उस मनुष्य के अति निकट आजाने पर, बात चीत के सुनने और पहनावा आदि के देखने से, यह दृढ़ निश्चय हो जाता है, कि यह मनुष्य दक्षिणी ही है, पंजाबी नहीं है। इस प्रकार दृढ़ निश्चयात्मक ज्ञान को 'अवाय' कहते हैं। यह ज्ञान अवग्रह और ईहा पूर्वक होता है, इसलिये ईहा के वाद अवाय का पाठ है। अवाय से दृढ़ निश्चयात्मक जाने हुये पदार्थ में ऐसे संस्कार का होजाना, कि जिसके निमित्त से वह अधिक समय तक ठहर सके, उस स्मृति रूप ज्ञान को 'धारणा' ज्ञान कहते हैं। इसके होने से ही कालान्तर में उस जाने हुये पदार्थ का स्मरण हो सकता है। यह ज्ञान अवाय पूर्वक होता है, इस लिये आवाय के बाद सूत्र में धारणा का पाठ है। ये चारों ही ज्ञान क्रमशः होते हैं। अब ये उपर्युक्त अवग्रहादि कितने प्रकार के पदार्थों को ग्रहण करने वाले

हैं, यही बात बताने के लिये सूत्र कहते हैं—

बहु बहु विध क्षिप्रानिःसृतानुक्त ध्रुवाणां सेतराणाम् ॥१६॥

सूत्रार्थः—(बहु बहु विध क्षिप्रानिः सृता नुक्त ध्रु वाणां) बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिःसृत, अनुक्त, और ध्रुव इन छः प्रकार के पदार्थों का तथा (सेतराणाम्) इन से उल्टे अल्प, एकविध, अक्षिप्र, तथा निःसृत, उक्त, और अध्रुव इन छः को मिला कर बारह प्रकार के पदार्थों का अवग्रह ईहादि रूप ज्ञान होता है ।

विशेषार्थः—ऊपर के सूत्रमें जो 'बहु' शब्द आया है । उसके दो अर्थ होते हैं, एक अर्थ तो 'संख्या वाचक' होता है जैसे-एक, दो, तीन, आदि । दूसरा अर्थ 'परिमाण वाचक' होता है । जैसे-बहुत दाल, बहुत आटा आदि । यहां पर 'बहु' शब्द के दोनों ही अर्थ ग्रहण करना चाहिये । सारांशतः एक जाति के बहुत से पदार्थों का एक साथ ज्ञान होने को 'बहु ज्ञान' कहतेहैं । अनेक जाति के बहुत पदार्थोंके एक साथ ज्ञान होनेको 'बहुविध ज्ञान' कहते हैं । जैसे-सेना में हाथी, घोड़ा, ऊँट, बैल, आदि अनेक जातियों का समुदाय है । एक जातिकी एक वस्तु का एक साथ ज्ञान होनेको 'एक ज्ञान' कहते हैं, यह ज्ञान बहु ज्ञान से उल्टा है । एक जाति की अनेक वस्तुओं का एक हो साथ ज्ञान होने को 'एकविध ज्ञान' कहते हैं । जैसे-बहुत से हाथियों का एक साथ ज्ञान होजाना, यह 'बहुविध' ज्ञान से विपरीत है । शीघ्र गमन करते हुये पदार्थ के ज्ञान होने को 'क्षिप्र ज्ञान' कहते हैं । जैसे-तेजी से बहता हुवा जल के प्रवाह का ज्ञान होना ।

मन्दगति से चलते हुये पदार्थ के ज्ञानको 'अक्षिप्र ज्ञान' कहते हैं । यह ज्ञान क्षिप्र ज्ञान से उल्टा होता है । जैसे-कछुआ, धीरे २

चलता है, अथवा मनुष्य, घोड़ा, इत्यादि का ज्ञान। छिपे हुये पदार्थ का, अथवा अल्पभाग दीखते हुये पदार्थ का ज्ञान होना, इसको 'अनिःसृत ज्ञान' कहते हैं। जैसे-जल में डूबा हुवा हस्ती आदि का ज्ञान। प्रगट पदार्थ के ज्ञान होनेको 'निःसृत ज्ञान' कहते हैं। यह ज्ञान अनिःसृत से उल्टा होता है, जैसे-सामने खड़ा हुवा हस्ती आदि का ज्ञान। बिना ही कहे अभिप्राय मात्र से ज्ञान होजाने को 'अनुक्त ज्ञान' कहते हैं। जैसे-किसी के हाथ या सिर से इशारा करने पर किसी काम के विषय में हां, या ना, समझ लेना। जो शब्दों के कहने पर ज्ञान हो, उसको 'उक्त ज्ञान' कहते हैं। यह ज्ञान अनुक्त ज्ञान से उल्टा होता है। जैसे-यह घट है। निश्चल पदार्थों के, अथवा बहुत समय तक जितना का तितना निश्चल रूप पदार्थों का ज्ञान होना, इसको 'ध्रुव ज्ञान' कहते हैं। जैसे पर्वत आदि का ज्ञान। क्षणस्थायी (अस्थिर) पदार्थों के ज्ञान को 'अध्रुव' ज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान ध्रुव ज्ञान से विपरीत होता है। जैसे-बिजली आदि का ज्ञान होना।

इस प्रकार इन बारह प्रकार के पदार्थों के अवग्रह, ईहा, आवाय, और धारणा चारों ज्ञान * होते हैं। बारह को चार से गुणा करने पर अड़तालीस भेद हो जाते हैं। इन अड़तालीस को पांच इन्द्रिय और मन द्वारा गुणा किये जाने पर, मति ज्ञान के दो सौ अठासी (२८८) भेद होजाते हैं। अवग्रह ज्ञान व्यक्त (प्रगट) पदार्थ और अव्यक्त (अप्रगट) पदार्थ दोनों का होता है। ईहा, आवाय, और धारणा, ये तीन ज्ञान व्यक्त पदार्थ के ही होते हैं,

* अवग्रहादि चारों ही ज्ञान सामान्यतया असैनी जीवों के भी होते हैं, इस विषय का विशेष वर्णन 'श्लोकवार्तिक' में देखना चाहिये।

देखो-पृष्ठ ३३० अ० दूसरा सू० २४।

अव्यक्त पदार्थ के नहीं होते हैं। इसलिये अवग्रह ज्ञान के ही अर्थावग्रह, और व्यंजनावग्रह ऐसे दो भेद होते हैं, अन्य ज्ञानों के नहीं होते। व्यंजनावग्रह नेत्र और मन के पदार्थ से भिड़न (स्पर्श) न होने के हेतु से, केवल चार इन्द्रियों से ही होता है। अवग्रह के दो (अर्थावग्रह व्यंजनावग्रह) भेद हो जाने से अवग्रह, ईहा, आदि ज्ञान चौबीस प्रकार के स्थान पर २८ प्रकार के होते हैं। इस तरह इन २८ भेदों को उपर्युक्त १२ से गुणा किये जाने पर २८ × १२=३३६ भेद हो जाते हैं। उपर्युक्त बहु आदिक शब्द विशेषण वाची हैं, अतएव ये विशेषण किसके हैं ? यह बताने के लिये सूत्र कहते हैं।

अर्थस्य ॥१७॥

सूत्रार्थ:—पूर्वोक्त बहु आदिक, एवं अवग्रह, ईहा, आवाय, धारणादिक जो मतिज्ञान के ३३६ भेद बताये हैं, वे सब अर्थ (पदार्थ) के होते हैं।

विशेषार्थ:—चक्षु आदिक इन्द्रियां जिसको विषय करती हैं, वह अर्थ (पदार्थ) कहा जाता है। 'बहु' आदिक विशेषण जो ऊपर बताये हैं, वे उस विशेष्य रूप पदार्थ के ही होते हैं। विशेष्य रूप पदार्थ दो प्रकार के हुवा करते हैं, एक व्यक्त, दूसरे अव्यक्त।

व्यक्त पदार्थों को अर्थ, और अव्यक्त पदार्थों को व्यंजन, कहा जाता है। ऊपर के 'सूत्र' में व्यक्त पदार्थ के ही अवग्रह, ईहा, आवाय और धारणा, ये चार ज्ञान बतलाये हैं। क्योंकि अव्यक्त के विषय में कुछ विशेषता है। उसी विशेषता को प्रगट करने के लिये आचार्य महोदय सूत्र कहते हैं—

व्यंजनस्यावग्रहः ॥१८॥

सूत्रार्थः—(व्यंजनस्य) अप्रगट रूप शब्द आदिक पदार्थों का, (अवग्रहः) सिर्फ अवग्रह ज्ञान ही होता है। अन्य ईहा, आवाय, और धारणा, ये तीन ज्ञान नहीं होते हैं।

विशेषार्थः—अप्रगट पदार्थ का सिर्फ अवग्रह ज्ञान ही होता है, शेष ईहादिक तीन ज्ञान नहीं होते, इस प्रकार से अवग्रह ज्ञान तो दोनों (व्यक्त और अव्यक्त) ही प्रकार के पदार्थ का होता है। इसी लिए अवग्रह के अर्थावग्रह और व्यंजनावग्रह, ये दो भेद हैं। इन्द्रियों से प्राप्त=सम्बद्ध अर्थ को 'व्यंजन', और अप्राप्त=असम्बद्ध, पदार्थ को 'अर्थ' कहते हैं। इसका स्पष्ट अर्थ यह है, कि इन्द्रियों से सम्बद्ध होने पर भी जब तक प्रगट न हो, तब तक उसको 'व्यंजन' कहते हैं, प्रगट होजाने पर उसीको 'अर्थ' कहते हैं अतएव चक्षु और मनके द्वारा व्यंजनावग्रह नहीं होता है, क्योंकि ये दोनों ही प्रगट पदार्थ को विषय करनेके कारण अप्राप्यकारी हैं। जिस प्रकार मिट्टी के किसी कोरे सकोरा आदि बर्तन के ऊपर पानी की बूंद पड़ने से पहले तो वह व्यक्त (प्रगट) नहीं होती, परन्तु पीछे से वह धीरे २ क्रम २ से बूंद पड़ते २ व्यक्त‡ हो जाती है। इसी प्रकार कहीं २ कानों पर पड़ा हुवा शब्द आदिक पदार्थ भी पहले तो अव्यक्त होता है। पीछे व्यक्त हो जाता है। इसी प्रकार के अव्यक्त पदार्थ को व्यंजन और व्यक्त को अर्थ समझना चाहिये। व्यक्त पदार्थ के अवग्रहादिक चारों ज्ञान होते हैं और अव्यक्त का सिर्फ अवग्रह ही होता है।

---

‡ यथा जलकण द्वित्रिसिक्तः शरावोऽभिनवोनार्द्रो भवति। स एव पुनः पुनः सिच्यमानः शनैस्तिम्यते। एवं श्रोत्रादिष्विन्द्रियेषु शब्दादि परिणताः पुद्गलाः द्वित्र्यादिषु समयेषु गृह्य माणा न व्यक्ती भवन्ति पुनः पुनः अवग्रहे सति व्यक्ती भवन्ति। स० सि०

जिस प्रकार अर्थावग्रह सब इन्द्रियों से होता है उस तरह व्यंजनावग्रह भी होना चाहिये, परन्तु व्यंजनावग्रह सब इन्द्रियों से नहीं होता। अतएव जिन जिन इन्द्रियों से व्यंजनावग्रह नहीं होता, उन २ इन्द्रियों को बताने के लिये सूत्र कहते हैं—

न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम् ॥१६॥

सूत्रार्थः—किन्तु (चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम्) नेत्र और मन से व्यंजन अर्थात् अप्रगट पदार्थ का अवग्रह ज्ञान (न) नहीं होता है, वह तो केवल चक्षु को छोड़ कर चार इन्द्रियों से होता है।

विशेषार्थः—जो पदार्थ अप्राप्त हो, अर्थात् इन्द्रिय से प्राप्त होकर ग्रहण न किया जाय, जो सन्मुख रक्खा हो, और जो इन्द्रिय से न तो बहुत दूर हो, और न अति निकट हो, किन्तु जितने क्षेत्र-वर्ती पदार्थ को इन्द्रियां ग्रहण कर सकती हैं, उतने क्षेत्र पर पदार्थ उपस्थित हो, प्रकाश आदि से स्पष्ट दीखता हो, ऐसे पदार्थ का ज्ञाननेत्र इन्द्रिय से होता है। और ऐसे ही पदार्थ को मन भी विषय (ग्रहण) कर सकता है। इस प्रकार जब चक्षु और मन से व्यक्त पदार्थ का ही ग्रहण होता है, और व्यंजनावग्रह में अव्यक्त पदार्थों का ही ग्रहण माना है, तब नेत्र और मन से अर्थावग्रह ही होगा, व्यंजनावग्रह नहीं होगा। क्योंकि चक्षु और मन अप्राप्यकारी हैं, अर्थात् ये वस्तु को प्राप्त सम्बद्ध न होकर ही (न भिड़ कर) ग्रहण‡ करते हैं। अतएव इनके द्वारा व्यक्त पदार्थ का ही ग्रहण हो सकता है। अव्यक्त पदार्थ का नहीं।

'व्यंजन' शब्द का अर्थ है अव्यक्त या अप्रगट, जैसे सोते समय हमें कोई पुकारता है, और नींद न खुलने से हम ठीक २

‡ पुट्ठंसुणोदि सद्दं अपुट्ठं चेव पस्सदे रूवं।
फासं रसं च गन्धं बद्धं पुट्ठं विजाणादि॥

सुन नहीं पाते हैं, फिर भी कुछ न कुछ असर हमारे ऊपर पड़ ही जाता है। इस तरह का अप्रगट ज्ञान 'व्यंजनावग्रह' कहलाता है आंख और मन दूर से ही पदार्थ को ग्रहण करते हैं। न पदार्थ इन से भिड़ता है और न ये पदार्थ से भिड़ते हैं, इस लिये इनको 'अप्राप्यकारी' कहा है। जब नेत्र और मन से व्यंजन पदार्थ का अवग्रह नहीं होता, तो इन से व्यंजन पदार्थ के ईहादिक भी नहीं हो सकते। क्योंकि बिना अवग्रह हुये ईहादिक भी नहीं हो सकते।

अवग्रहादिक की अपेक्षा से मतिज्ञान के चार भेद हैं। तथा ये चारों भेद पांच इन्द्रिय और मन से होते हैं। चार को छह से गुणा करने पर २४ भेद अर्थावग्रह के होते हैं। इन्हीं में चार भेद व्यंजनावग्रह के मिला देने से २८ भेद हो जाते हैं। इन २८ का बहु आदिक १२ भेदों से गुणा करने पर मतिज्ञान के कुल भेद तीन सौ छत्तीस (३३६) होते हैं। इन दोनों सूत्रों का सार यह है कि अव्यक्त पदार्थों का अवग्रह केवल चार इन्द्रियों से होता है, और ऐसे पदार्थों के ईहा, आवाय, और धारणा भी नहीं होते हैं। ऐसे अवग्रह का नाम व्यंजनावग्रह है।

तेरहवें 'सूत्र' से लेकर १९वें 'सूत्र' पर्यन्त मतिज्ञान के लक्षण और उसके भेद-प्रभेद आदि का वर्णन किया गया। अब क्रमानुसार श्रुत ज्ञान का वर्णन करते हैं। सब से प्रथम श्रुतज्ञान किन कारणों से उत्पन्न होता है, और कितने प्रकार का होता है। इस बात को बताने के लिये सूत्र कहते हैं—

श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेक द्वादश भेदम् ॥२०॥

सूत्रार्थः—(श्रुतं) श्रुतज्ञान (मतिपूर्वं) मतिज्ञान के निमित्त से होता है। वह (द्व्यनेक द्वादश भेदम्) दो प्रकार, एवं अनेक प्रकार

तथा बारह प्रकार का होता है।

विशेषार्थ:—मतिज्ञान के विषयभूत पदार्थ से भिन्न पदार्थ के ज्ञान को 'श्रुतज्ञान' कहते हैं। यह नियम से मतिज्ञान पूर्वक ही होता है। इस श्रुतज्ञानके अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक इस तरह दो भेद हैं। इसमें मुख्य अक्षरात्मक श्रुतज्ञान समझना चाहिये। मतिज्ञान से श्रुतज्ञान* में विशुद्धि अधिक है। मतिज्ञान में इन्द्रिय और मन दोनों निमित्त होते हैं, जबकि श्रुतज्ञान में केवल शास्त्रीय श्रुतज्ञान की अपेक्षा) मनही निमित्त होता है। यद्यपि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दोनोंका विषयनिबन्ध सामान्यतया एक ही है। परन्तु उसमें काल की अपेक्षा से भेद होता है। मतिज्ञान को आत्मा के ज्ञान स्वभाव के कारण पारणामिक भी कहा जा सकता है, परन्तु श्रुतज्ञान को नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह आप्त के उपदेश से मतिज्ञान †पूर्वक होता है। जब श्रुतज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम अन्तरंग कारण विद्यमान हो, तबही जीव के श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है। इसलिये मतिज्ञान केवल नाम मात्र बाह्य श्रुतज्ञान की उत्पत्ति में कारण होता है। मुख्य औरअन्तरंग कारण श्रुतज्ञानावरण कर्मका

---

* पांचों ज्ञानों में संसारी जीवों का सब से अधिक उपकार करने वाला श्रुतज्ञान ही है। इस श्रुतज्ञान से ही मोक्ष मार्ग और वस्तु स्वरूप का ज्ञान और प्राप्ति होती है। अतएव जिस प्रकार भी हो सके, इस श्रुतज्ञान की वृद्धि करना चाहिये। वर्तमान में तो श्रुतज्ञान (शास्त्रज्ञान) के अतिरिक्त आत्म कल्याण का अन्य कोई साधन ही नहीं है। अतएव इस श्रुतज्ञान की वृद्धि शास्त्र स्वाध्याय के द्वारा प्रत्येक स्त्री पुरुष को अवश्य करना चाहिये।

† अत्थादो अत्थंतर मुवलम्भतं भणन्ति सुदणाणं।
आभिणि बोहिय पुव्वं णियमे णिह सद्दजं पमुहं॥ गो० सा०॥

‡क्षयोपशम समझना चाहिये। मतिज्ञान केवल वर्तमान कालवर्ती पदार्थ को ग्रहण करता है, किन्तु श्रुतज्ञान त्रिकालवर्ती पदार्थ को ग्रहण करने वाला है। मतिज्ञान की अपेक्षा श्रुतज्ञान का विषय महान् है। क्योंकि उसके द्वारा जिन विषयों का वर्णन किया गया है, वे विषय अनन्त हैं। अनन्त पदार्थों की अपेक्षा से श्रुतज्ञान भी अनन्त पदार्थों का ज्ञाता है, फिर केवल ज्ञान में और इस (श्रुतज्ञान) में क्या भेद है। इस प्रकार की शंका का समाधान यह है, कि श्रुतज्ञान परोक्ष है, केवल ज्ञान प्रत्यक्ष है। यद्यपि ज्ञान की अपेक्षासे श्रुतज्ञान और केवलज्ञान दोनों समान हैं। अर्थात् जिस प्रकार श्रुतज्ञान सम्पूर्ण द्रव्य और उनकी पर्यायोंको जानता है उसी प्रकार केवलज्ञान भी सम्पूर्ण द्रव्य और उनकी पर्यायोंको जानता है। विशेषता इतनी ही है, कि श्रुतज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायतासे होता है, इसलिये उसको अमूर्त पदार्थों में, और उनकी अर्थ-पर्याय तथा दूसरे सूक्ष्म अंशों में, स्पष्ट रूप से प्रवृति नहीं होती, किन्तु केवलज्ञान निरावरण होने के कारण समस्त पदार्थों को, और उनकी त्रिकालवर्ती अनन्तानन्त पर्यायों को स्पष्ट रूप से विषय करता है।

अक्षर, पद, शब्दों से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसको 'अक्षरात्मक श्रुतज्ञान' कहते हैं। जैसे—'जीव' शब्द के सुनने मात्र का जो ज्ञान है, उसको 'मतिज्ञान' कहते हैं। उसके पश्चात् 'जीव' शब्द के सुनने से 'जीव' नाम के पदार्थ का बोध होना, उसको 'अक्षरात्मक श्रुतज्ञान' समझना चाहिये। क्योंकि 'शब्द' और अर्थ का वाच्य वाचक सम्बन्ध है। अर्थ वाच्य और शब्द उसका

‡ श्रुतावरण क्षयोपशम प्रकर्षे तु सति श्रुतज्ञान उत्पद्यत इति मतिज्ञानं निमित्त मात्रं ज्ञेयम् ॥

वाचक होता है। शब्द वाचक से अर्थ वाच्य का बोध हो जाना इसी का नाम 'अक्षरात्मक श्रुतज्ञान' है।

जो केवल केवलज्ञान के द्वारा जाने जा सकते हैं, किन्तु जिनका वचन के द्वारा निरूपण नहीं किया जा सकता, ऐसे पदार्थ अनन्तानन्त हैं। इस तरह के पदार्थोंसे अनन्तवें भाग प्रमाण वे पदार्थ हैं, कि जिनका वचन के द्वारा निरूपण हो सकता है, ऐसे पदार्थों को 'प्रज्ञापनीय पदार्थ' कहते हैं। जितने प्रज्ञापनीय पदार्थ हैं, उन का भी अनन्तवां भाग श्रुत (शास्त्रों) में निरूपित है। यह श्रुतज्ञान मूल में दो प्रकार का होता है। अंग वाह्य और अंग प्रविष्ट। जिस में सामायिक, चतुर्विंशति स्तव, बंदना, प्रतिक्रमण, कायव्युत्सर्ग, प्रत्याख्यान, दश वैकालिक, उत्तराध्यायदशा, कल्पव्यवहार, और निशीथ, आदि के भेद से अंग वाह्य अनेक प्रकार का होता है। अंग प्रविष्ट के बारह भेद हैं। आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञातृधर्म कथांग, उपासकाध्ययनदशांग, अन्तःकृतदशांग, अनुत्तरौपादिक दशांग, प्रश्नव्याकरण, विपाकसूत्र, और दृष्टिवादांग।

गणधर देव की रचना को 'अंग प्रविष्ट', और अन्य आचार्यों की रचनाओं को † 'अंग वाह्य' कहते हैं। श्रुतज्ञान में पदार्थों के एक२ विषय (अर्थ) को लेकर अधिकारों की रचना हुई है, और फिर उनके अंग उपांग रूप में नाना भेद प्रभेद होगये हैं। यदि इस प्रकार के नाना भेद प्रभेदों में उनकी रचना न होती, तो समुद्र को तरने के समान दुखगम्य होगया होता। अर्थात् जिस प्रकार कोई मनुष्य समुद्रको तर नहीं सकता, उसी प्रकार कोई भी व्यक्ति

† आरातीयाचार्य कृतांगार्थ प्रत्यासन्न रूप मंग वाह्यं।
तदनेक विधं कालिकोत्कालिकादि विकल्पात् ॥

श्रुतज्ञान का पार नहीं पा सकता था।

अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान के 'पर्याय ज्ञान' और 'पर्याय समास ज्ञान' इस प्रकार दो भेद हैं, सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्य पर्याप्तक जीव के उत्पन्न होने के समय में सबसे जघन्य श्रुतज्ञान होता है, उसको 'पर्यायज्ञान' कहते हैं। इतना ज्ञान हमेशा निरावरण तथा प्रकाशमान रहता है। सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्य पर्याप्तक जीव के अपने २ जितने भव (छः हजार बारह) सम्भव हैं, उनमें भ्रमण करके अन्त के अपर्याप्त शरीर को तीन मोडाओं के द्वारा ग्रहण करने वाले जीव के प्रथम मोड़ा के समय में सर्व जघन्य (अक्षर के अनन्तवें भाग प्रमाण) ज्ञान होता है।

अर्थात्—सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्य पर्याप्तक जीव के उत्पन्न होने के प्रथम समय में स्पर्शन इन्द्रिय जन्य मतिज्ञान पूर्वक 'लब्ध्यक्षर रूप श्रुतज्ञान' होता है। 'लब्धि' नाम श्रुतज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशम का है। और 'अक्षर' नाम अविनश्वर (अविनाशी) का है। इसलिये इस ज्ञानको 'लब्ध्यक्षर' कहते हैं। क्योंकि इस क्षयोपशम का कभी विनाश नहीं होता। कम से कम इतना क्षयोपशम तो जीव के रहता ही है। इसमें विशेषता केवल यही है, कि इसके आवरण करने वाले कर्म के उदय का फल इस पर्याय ज्ञान में नहीं मिलता। किन्तु इसके बाद पर्याय समास ज्ञान के प्रथम भेद में होता है। क्योंकि इस कर्म का उदय-फल यदि पर्याय ज्ञान में हो जाय, तो ज्ञानोपयोग का अभाव होने से जीव का भी अभाव होजावे? इसलिये इस कर्म का फल उसके आगे के ज्ञानके प्रथम भेद में ही होता है। इसीलिये कम से कम पर्याय रूप ज्ञान जीव के अवश्य पाया जाता है। और असंख्यात लोक प्रमाण 'पर्याय समास ज्ञान'के भेद हैं। पुद्गल द्रव्य स्वरूप पदादिक मय तो 'द्रव्य

श्रुत' है, और उसके सुनने से जो श्रुतज्ञान का पर्याय रूप ज्ञान हुवा है, उसको 'भावश्रुत' समझना चाहिये।

प्रमाण के प्रत्यक्ष और परोक्ष इस प्रकार दो भेद कहे थे। जिसमें परोक्ष प्रमाण का स्वरूप बतला दिया गया। अब प्रत्यक्ष प्रमाण के विषय में कथन करते हैं। प्रत्यक्ष के दो भेद हैं, देश प्रत्यक्ष और सकल प्रत्यक्ष। अवधिमनःपर्यय ज्ञानको 'देश प्रत्यक्ष' और केवल ज्ञान को 'सकल प्रत्यक्ष' कहा गया है। अवधि ज्ञान भव प्रत्यय (भव निमित्तक), और गुणप्रत्यय (क्षयोपशम निमित्तक), के भेद से दो प्रकार का होता है। अथवा देशावधि, सर्वावधि, और परमावधि, के भेद से उसके तीन भेद भी बतलाये गये हैं। अब यहां पर पहले भव प्रत्यय अवधि ज्ञान का वर्णन करने के लिये सूत्र कहते हैं—

भव प्रत्ययो ऽवधि र्देवनारकाणाम् ॥२१॥

सूत्रार्थः—अवधि ज्ञान के दो भेदों में से (भवप्रत्ययः) भव प्रत्यय नाम का (अवधि) अवधि ज्ञान (देवनारकाणाम्) देव और नारकी जीवों के ही होता है॥२१॥

विशेषार्थः—द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भाव, की अपेक्षा से जिसके विषय की सीमा (हद) हो, उस को 'अवधि ज्ञान' कहते हैं। इसी लिये आगम में इसको 'सीमा ज्ञान' कहा है, तथा इसके उपर्युक्त भवप्रत्यय और गुण प्रत्यय दो भेद किये हैं। नारकादि भव की अपेक्षा से अवधि ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होकर जो अवधि ज्ञान हो, उसको 'भव प्रत्यय अवधि' कहतेहैं। अर्थात नारकी और देवों के जो अवधि ज्ञान होता है, उसको 'भव प्रत्यय अवधिज्ञान' कहते हैं। क्योंकि नारकी और देवों के अवधिज्ञान में उस गति

में उत्पन्न होना ही कारण है । जैसे ‡पक्षियों को आकाश में गमन करना (उड़ना) स्वभावतः उस पर्यायमें जन्म लेते ही आजाता है। उसी प्रकार नरक और देवगति में उत्पन्न होते ही अवधि ज्ञान भी स्वतः उत्पन्न हो ही जाता है । यद्यपि यह ज्ञान अवधि ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से ही प्राप्त होता है, परन्तु फिर भी देव और नारकियों के अवधिज्ञान को क्षयोपशम निमित्तक न कह कर भव निमित्तक ही कहा गया है, क्योंकि उसकी उत्पत्ति में भव की प्राधान्यता है । जैसे दीपक की ज्योति, प्रकाश, और अन्धकार का नाश, ये तीनों कार्य एक साथ हो जाते हैं। उसी प्रकार देव, नारकी और §तीर्थंकरों का भव, भव प्रत्यय अवधिज्ञान, और अवधि-ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम, ये तीनों कार्य साथ२ ही उत्पन्न होते हैं। और गुण प्रत्यय (क्षयोपशम निमित्तक) अवधिज्ञान में भी मनुष्य, तिर्यंच, भवों के सद्भाव का अस्तित्व है, तथापि उन पर्यायों की अपेक्षा नहीं करने से गुण प्रत्यय कहा गया है । सभी देव और नारकियों के अवधिज्ञान समान नहीं होता, किन्तु जिसके जितनी योग्यता है, उसके उतना ही ज्ञान समझना चाहिये । भव प्रत्यय अवधिज्ञान देव नारकियों के अतिरिक्त तीर्थंकरों के भी होता है । और यह † सम्पूर्ण अंगसे अर्थात् समस्त आत्म प्रदेशों

---

‡ यथा पतत्रिणो गमनमाकाशे भव निमित्तं न शिक्षा गुण विशेषः । तथा देव नारकाणां व्रत नियमाद्यभावेऽपि जायते इति भव प्रत्ययः इत्युच्यते । स० सि०

§ तीर्थं कृतां भव प्रत्ययोऽपि अवधिर्भवतीत्यर्थः । स० सि०

† भव पच्चयगो सुरणिरयाणं तित्थेवि सव्व अंगुत्थो ।
गुण पंचयगो णर तिरियाणं संखादि चिन्ह भवो ॥
गो० सा० ॥३७० ॥

से उत्पन्न होता है। तथा क्षयोपशम निमित्तक अवधिज्ञान नाभिके ऊपर शंख, वज्र, स्वस्तिक, कलश, आदि शुभ चिन्हों से प्रगट होता है। भव प्रत्यय अवधि ज्ञान नियम से देशावधि ही होता है। तीव्र और मंद रूप से जैसार क्षयोपशम होता है, उसी की अपेक्षा अवधिज्ञान भी हीन और उत्कृष्ट वा जघन्य होता है। यही कारण है, कि देव, नारकियों को वाह्य कारण भव का समान मिलने पर भी क्षयोपशम की हीनाधिकता से उनका अवधिज्ञान भी हीनाधिक रूप से होता है। इस प्रकार हीनाधिकता की दृष्टि से सभी देव नारकियों का अवधिज्ञान भिन्न २ प्रकार का होता है।

देव चार प्रकार के होते हैं—भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क, और वैमानिक। इनके अवधिज्ञान का क्षेत्र कम से कम २५ योजन और अधिक से अधिक लोकनाड़ी है। जिस में एक राजू मोटी, एक राजू चौड़ी, तथा चौदह राजू ऊंची, त्रस नाड़ी है। और देवों के अवधि क्षेत्र ऊपर कम, किन्तु तिर्यक् (तिरछा) और नीचे अधिक होता है। सप्तम नर्क में अवधि ज्ञान के विषय भूत क्षेत्र का परिमाण एक कोस है। इस के ऊपर आध २ कोस की वृद्धि तब तक होती है, जब तक कि प्रथम नरक में अवधि ज्ञान के विषय भूत क्षेत्र का प्रमाणपूर्ण एक योजन हो जाता है।

यदि भव प्रत्यय अवधि ज्ञान देव और नारकियों के होता है तो क्षयोपशम निमित्तक किन के होता है? ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर स्वरूप सूत्र कहते हैं—

क्षयोपशम निमित्तः षड् विकल्पः शेषाणाम् ॥२२॥

सूत्रार्थः—(क्षयोपशम निमित्तः) क्षयोपशम निमित्त वाला अवधि ज्ञान (षड् विकल्पः) छह भेद रूप होता है, और वह

(शेषाणां) मन सहित सैनी जीवों के अर्थात् मनुष्य तिर्यंचों के होता है।

विशेषार्थः— अवधि ज्ञानावरण कर्म के देश घाती स्पर्द्धकों का उदय, सर्वघाती स्पर्द्धकों का उदयाभावी क्षय, (जो कर्म बिना ही फल दिये झड़ जाय, उसे 'उदया भावी क्षय' कहते हैं) और आगामी काल में उदय आने वाले सर्वघाति स्पर्द्धकों का सदवस्था-रूप उपशम (वर्तमान समय को छोड़ कर आगामी काल में उदय आने वाले कर्मोंकि सत्ता में रहने को 'सदवस्था रूप उपशम' कहते हैं) ऐसी कर्म की अवस्था का नाम 'क्षयोपशम' है। इस तरह के अवधि ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न हुवा अवधिज्ञान मनुष्य और तिर्यंचों के होता है, जिसको 'क्षयोपशम निमित्तक' अवधिज्ञान कहते हैं।

शक्ति के जिस अंश का विभाग न हो सके, उस अविभागी अंश को 'अविभाग प्रतिच्छेद' कहते हैं। समान अविभाग प्रति-च्छेदों के धारक प्रत्येक कर्म परमाणु का नाम 'वर्ग' है। वर्गों के समूह को 'वर्गणा'कहते हैं। और वर्गणाओंके समूहको 'स्पर्द्धक' कहते हैं। वह स्पर्द्धक दो प्रकार के होतें हैं—एक देशघाति, दूसरे सर्वघाति। जो गुणके एक देश को घाते वह 'देशघाति', और जो गुणको सर्वदेश घाते, वह 'सर्वघाति'स्पर्द्धक कहलाता है। स्थिति को पूर्ण करके कर्म के फल देने को 'उदय' कहते हैं। ये गुण प्रत्यय अवधिज्ञान सम्यग्दर्शनादि कारणों की अपेक्षा से अवधि ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होने से होता है। यह ज्ञान पर्याप्त मनुष्य तथा सैनी पंचेन्द्रिय तिर्यंचों के भी होते हैं। और यह शखादि चिन्हों से ही प्रगट होता है। अवधि ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम की अपेक्षा से इसके छह भेद हैं— अनुगामी, अन-

नुगामी, हीयमान, वर्द्धमान, अवस्थित, और अनवस्थित।

१—अनुगामी अवधिज्ञान के तीन भेद हैं। क्षेत्रानुगामी, भवानुगामी, उभयानुगामी, जो दूसरे क्षेत्र में अपने स्वामी के साथ चला जावे, उसको 'क्षेत्रानुगामी' कहते हैं। जो दूसरे भव में अपने स्वामी के साथ चला जावे, वह 'भवानुगामी' होता है। और जो क्षेत्र तथा भव, दोनों में अपने स्वामी के साथ जावे, उसको 'उभयानुगामी' कहते हैं।

२—अननुगामी अवधि ज्ञान भी क्षेत्र, भव, और दोनों की अपेक्षा से अनुगामी की तरह तीन प्रकार का होता है। जो अपने स्वामी जीव के साथ दूसरे क्षेत्र में न जावे, उसको 'क्षेत्राननुगामी' कहते हैं। और जो दूसरे भव में अपने स्वामी के साथ नहीं जावे, उसको 'भवाननुगामी', तथा जो दोनों (क्षेत्र और भव) में अपने स्वामीके साथ न जावे, उसको 'उभयाननुगामी' अवधिज्ञान कहते हैं।

३—जो अवधिज्ञान क्रम से घटता २ अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण तक के क्षेत्र को विषय करने वाला रह जावे, उसको 'हीयमान' जानना चाहिये।

४—जो अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण से क्रमशः वृद्धि रूप होता जावे, उसको 'वर्द्धमान' अवधि ज्ञान कहते हैं।

५—जो अवधिज्ञान सम्यग्दर्शनादि गुणों के सद्भाव में जितने परिमाण में उत्पन्न हुवा है, उसका उतना ही परिमाण केवल ज्ञान की प्राप्ति पर्यन्त बना रहे, घटे बढ़े नहीं, उस को 'अवस्थित' अवधि ज्ञान कहते हैं।

६—जो अवधिज्ञान एक रूपमें न रह कर अनेक रूप धारण करे, कभी घटे, कभी बढ़े, कभी छूट जाय, कभी उत्पन्न हो,

अर्थात् नाना अवस्थाओंको धारण करने वाला ज्ञान 'अनवस्थित' अवधिज्ञान कहलाता है।

जिस के अवस्थित जाति का अवधिज्ञान होता है, उसके वह तब तक नहीं छूटता, जब तक कि उसको केवलज्ञान की प्राप्ति न हो जाय। यदि किसी जीव के उस पर्याय में केवलज्ञान न हो, तो दूसरी पर्याय में अवधिज्ञान भी उसके साथ चला जाता है। गुण प्रत्यय अवधिज्ञान देशावधि, सर्वाधि, और परमावधि, के भेद से तीन प्रकार का होता है—देव, नारकी, तिर्यंच, और गृहस्थ मनुष्य, इनके देशावधि ही होता है। शेष दो भेद अर्थात् सर्वावधि और परमावधि चरमशरीरो (उसी भव से मोक्ष जाने वाले) मुनियों के ही होते हैं। जघन्य देशावधि ज्ञान संयमी और असंयमी दोनों ही प्रकार के मनुष्य तथा तिर्यंचों के होता है। किन्तु उत्कृष्ट देशावधि ज्ञान संयमी जीवों के ही होता है। देशावधि ज्ञान प्रतिपाती (सम्यक्त्व और चारित्र से च्युत हो कर मिथ्यात्व एवं असंयम की प्राप्ति को 'प्रतिपात' कहते हैं) होता है, और परमावधि तथा सर्वावधि अप्रतिपाती होते हैं। परमावधि और सर्वावधि वाले जीव नियमसे मिथ्यात्व और अवृत अवस्था को प्राप्त नहीं होते हैं। जघन्य भेद से लेकर उत्कृष्ट भेद पर्यन्त सभी अवधि ज्ञान द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भाव, की अपेक्षा से रूपी (पुद्गल) पदार्थ को ही जानता है। तथा उसके सम्बंध से संसारी जीव द्रव्य को भी जानता है। किन्तु सर्वावधि ज्ञान में जघन्य उत्कृष्ट भेद नहीं होते हैं। वह निर्विकल्प (अभेद) होता है।

सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्य पर्याप्तक की उत्पन्न होने से तीसरे समय में जो जघन्य अवगाहना होती है, उसका जितना प्रमाण है, उतना ही अवधिज्ञान के जघन्य क्षेत्र का प्रमाण जानना चाहिये।

यह विषय क्षेत्र जघन्य देशावधि वाले का है। सूक्ष्म निगोदिया जीव के शरीर की जघन्य अवगाहना घनांगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण होती है। यह अवगाहना उत्सेधांगुल की अपेक्षा से है, क्योंकि आगम का ऐसा वचन है, कि शरीर, गृह, ग्राम, नगर, आदि के प्रमाण 'उत्सेधांगुल' से ही लिये जाते हैं।

देशावधि अवधिज्ञान आठ (अनुगामी आदि छह भेदों में प्रतिपाती और अप्रतिपाती के मिला देनेकी अपेक्षा) प्रकार का समझना चाहिये। परमावधिज्ञान अनुगामी (क्षेत्रानुगामी) अननुगामी (भवाननुगामी) वर्द्धमान, अवस्थित, अनवस्थित* और अप्रतिपाति, इस प्रकार छह भेद रूप होता है। सर्वावधि ज्ञानअनुगामी (क्षेत्रानुगामी) अननुगामी (भवाननुगामी) वर्द्धमान, अवस्थित और अप्रतिपाती, इस तरह पांच प्रकार का होता है। विद्युत (बिजली) के चमत्कार समान प्रतिपाती और इसके विपरीत अप्रतिपाती होता है। अवधिज्ञान की उत्पत्ति में आत्मा की अपेक्षा है। अतएव वह स्वाधीन प्रत्यक्ष कहा गया है। अवधिज्ञान के जघन्य भेदसे लेकर उत्कृष्ट भेद पर्यन्त असंख्यात लोक प्रमाण भेद हैं। अवधिज्ञान रूपी द्रव्य को जानने के अतिरिक्त रूपी द्रव्य के सम्बन्ध से जीव के औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक भावों को भी जानता है। किन्तु रूपी द्रव्य के सम्बन्ध का अभाव होने के कारण क्षायिक तथा पारणामिक भावों और धर्म, अधर्म, आकाश, तथा काल द्रव्य, को नहीं जानता है। यह अवधि ज्ञान सम्पूर्ण मनुष्य तथा तिर्यंचों के नहीं होता, किन्तु उन्हीं पर्याप्तक मनुष्य और सैनी तथा पर्याप्तक‡

---

* वृद्धि की अपेक्षा अवस्थित है।

‡ आहार, शरीर, इन्द्रिय श्वासोश्वास, भाषा, और मन ये छह पर्याप्ति होती हैं। इन में एकेन्द्रिय जीव के ४ चार, दो इन्द्रिय से लेकर असैनी

तिर्यंचों के होता है, कि जिनके सम्यग्दर्शनकी विशुद्धता और व्रत नियमादिक विशेष गुण पाये जाते हैं।

अवधि ज्ञान का वर्णन कर दिया गया, अब क्रमानुसार मनः पर्यय ज्ञान का और उसके भेदों का वर्णन करने के लिये सूत्र कहते हैं—

ऋजु विपुलमती मनः पर्ययः ॥२३॥

सूत्रार्थः—(मनः पर्ययः) मनः पर्यय *ज्ञान (ऋजु विपुलमती) ऋजुमति और विपुल मति के भेद से दो प्रकार का होता है।

विशेषार्थः—जिसका भूत काल में चिन्तवन किया हो, अथवा जिसका भविष्यत् काल में चिन्तवन किया जायगा, अथवा वर्तमान में जिसका आधा चिन्तवन किया है, इत्यादि अनेक भेद स्वरूप दूसरे के मनमें स्थित रूपी पदार्थ जिस ज्ञान के द्वारा जाना जाय, उस ज्ञान को 'मनः पर्यय ज्ञान' कहते हैं। यह मनः

पंचेन्द्रिय पर्यन्त पांच पर्याप्ति, और सैनी जीव के छहों पर्याप्ति होती हैं। शक्ति विशेष की पूर्णता को पर्याप्ति कहते हैं। जिन की शरीर पर्याप्ति भी पूर्ण नहीं हो पाती, किन्तु मरण होजाता है, उनको 'लब्ध्यपर्याप्तक' कहते हैं। भव धारण करने के प्रथम अन्तर्मुहूर्त काल में ही अपने २ योग्य पर्याप्तियों की पूर्णता हो जाती है। तथा इनका प्रारम्भ युगपत् होता है, किन्तु पूर्णता क्रम से हुवा करती है, फिर भी प्रत्येक पर्याप्ति का काल अन्तर्मुहुर्त है। क्योंकि अन्तर्मुहुर्त के भी असंख्यात भेद होते हैं। इन छहों पर्याप्तियों का विशेष वर्णन दूसरे अध्याय में किया गया है।

* वीर्यान्तराय मनः पर्ययज्ञानावरण क्षयोपशमांगोपांग नाम लाभावष्टम्भादात्मनः। परकीय मनः सम्बन्धेन लब्ध वृत्तिः उपयोगो मनः पर्ययः।

स. सि.

पर्यय ज्ञान मनुष्य ‡क्षेत्र में ही होता है, बाहर नहीं। सामान्यतः मनःपर्यय एक ही प्रकार का है, किन्तु विशेष भेदों की अपेक्षा दो प्रकार का है। एक ऋजुमति, दूसरा विपुलमति, मनःपर्यय-ज्ञान।

मन, वचन, और काय की सरलता लिये हुये दूसरेके मन में तिष्ठते हुये पदार्थको जो जाने, वह 'ऋजुमति मनःपर्यय' ज्ञान है। सरल मन, वचन, काय, के द्वारा किये हुये पदार्थ को विषय करने की अपेक्षा ऋजुमति के तीन भेद हैं, अर्थात् ऋजु मनोगतार्थ-विषयक, ऋजु वचन गतार्थ विषयक, और ऋजु काय गतार्थ विषयक, ये तीन भेद हैं। और दूसरे के मनमें तिष्ठने वाले मन, वचन, और काय के द्वारा किये गये सरल और कुटिल (वक्र या टेढ़े) दोनों प्रकार के रूपी पदार्थों को जान लेना 'विपुलमति' नाम का मनःपर्यय ज्ञान है। सरल और कुटिल मन, वचन, काय, की अपेक्षा विपुलमतिके छह भेद होते हैं। अर्थात् सरल मन, वचन, काय, गत पदार्थ को विषय करने की अपेक्षा तीन भेद, और कुटिल मन, वचन, काय, के द्वारा किये हुये परकीय मनोगत पदार्थों को विषय करने की अपेक्षा तीन भेद, इस प्रकार दोनों को मिला कर कुल छह भेद हो जाते हैं। ऋजु मति और विपुलमति मनःपर्यय के विषय शब्दगत तथा अर्थगत दोनों ही प्रकार के होते हैं। जिस की मति (जानना) ऋज्वी (सरल) है, वह 'ऋजुमति' है। और जिसकी मति विपुल अर्थात् सरल और कुटिल दोनों प्रकार की है, वह विपुलमति है। विपुलमति मनःपर्यय ज्ञान त्रिकालवर्ती मनुष्य के द्वारा चिन्तित, अचिन्तित और अर्द्धचिन्तित, ऐसे तीनों

‡ मध्य लोक में ढाई द्वीप (प्रमाणांगुल से ४५ लाख योजन प्रमाण क्षेत्र) चौड़े और मेरु प्रमाण ऊंचे क्षेत्र को 'मनुष्य लोक' कहते हैं।

प्रकार की पर्यायों को जान सकता है। क्योंकि पुद्गल द्रव्य त्रिकाल विषयक है। परन्तु ऋजुमति केवल वर्तमान कालवर्ती जीव के द्वारा ही चिन्त्यमान पर्यायों को ही विषय कर ‡सकता है। इसके अतिरिक्त यह दोनों ही प्रकार का ज्ञान दर्शन पूर्वक नहीं §होता है। जैसे कि अवधिज्ञान प्रत्यक्ष होकर भी दर्शन पूर्वक ही होता है, वैसे यह नहीं होता, यह तो ईहा नाम के मतिज्ञान पूर्वक हुवा †करता है। मनःपर्यय ज्ञान रूपी पुद्गल द्रव्यकी सम्पूर्ण पर्यायों को न जान कर कुछ पर्यायों को जानता है, इस लिये 'देश' कहलाता है, और जितनी पर्यायों की जानता है, उतनी पर्यायों को इन्द्रिय व मन की सहायता के बिना ही स्पष्ट रूप से जानता है, इसलिये 'प्रत्यक्ष' कहते हैं। यह ज्ञान प्रतिपातीऔर अप्रतिपाती दोनों प्रकार का होता है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भाव की अपेक्षा से रूपी पुद्गल द्रव्य, तथा रूपी द्रव्य के सम्बन्ध से संसारी जीव को भी जानता है। जिस प्रकार अवधि ज्ञान सम्पूर्ण अंग और शंखादि चिन्हों से उत्पन्न होता है, इस प्रकार से यह उत्पन्न नहीं होता है

---

‡ तियकाल विसय रूवि चिन्तितं वट्ठमाण जीवेण।
उजुमदि णाणं जाणदि भूद भविस्सं च विउलामदी ॥ ४४० ॥ गो०सा०

§ यही कारण है कि दर्शनोपयोग के चार भेदों में अवधिदर्शन का उल्लेख है, किन्तु मनःपर्यय दर्शन का उल्लेख नहीं है। इसका कारण यही है, कि अवधिज्ञान दर्शन पूर्वक होता है। किन्तु मनःपर्यय ज्ञान दर्शन पूर्वक नहीं होता। कितने ही भाई इस विषय में शंका किया करते हैं कि अवधि दर्शन की तरह मनःपर्यय दर्शन क्यों नहीं कहा गया है? उनको अपनी शंका का इस कथन से समाधान करलेना चाहिये।

† परमण सिट्ठिय मट्ठं ईहा मदिणा उजुट्ठियं लहिय।
पच्छा पच्चक्खेण य उजुमदिणा जाणदे णियमा ॥ ४४७ गो० सा०

यह उत्पत्ति स्थान की अपेक्षा अवधि और मन:पर्यय ज्ञान में अंतर समझना चाहिये। यद्यपि अवधि शंखादि चिन्हों के स्थान से ही उत्पन्न होती है, तथापि इन चिन्हों का स्थान द्रव्य मन की तरह निश्चित नहीं है, किन्तु द्रव्य मन की उत्पत्ति की जगह के आत्म प्रदेशों में रहने वाले मन:पर्यय ज्ञानावरण, तथा वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम होनेपर प्रमत्त गुण स्थान (छट्ठा गुणस्थान) से लेकर क्षीण कषाय गुणस्थान पर्यन्त सात गुणस्थानों में बुद्धि आदिक ‡सात ऋद्धियों में से एक, दो, अथवा सातों ऋद्धियों से युक्त और वर्द्धमान विशिष्ट चारित्र वाले मुनियों के ही होता है, दूसरों के नहीं। अंगोपांग नाम कर्म के उदय से मनोवर्गणा के स्कन्धों के द्वारा हृदयस्थान में नियम से विकसित आठ पांखड़ी के कमल के आकार में द्रव्य मन उत्पन्न होता है, इस द्रव्य मनकी 'नो इन्द्रिय' संज्ञा भी है। क्योंकि यह दूसरी इन्द्रियों की तरह प्रकट नहीं है। इस द्रव्य मन के होने पर ही भावमन तथा मन:पर्यय ज्ञान उत्पन्न होता है।

अपने और दूसरे के स्पर्शनादि इन्द्रिय, मन तथा मनोयोग, काय योग और वचन योग की अपेक्षा से ऋजुमति ज्ञान उत्पन्न होता है। अर्थात् वर्तमान में विचार प्राप्त स्पर्शनादि के विषयों को ऋजुमति जानता है। किन्तु विपुलमति अवधि के समान इनकी अपेक्षा के विना ही नियम से उत्पन्न होता है। ऋजुमति प्रतिपाती है, क्योंकि ऋजुमति ज्ञान वाला उपशमक, और क्षपक दोनों श्रेणियों पर चढ़ता है। उसमें यद्यपि क्षपक की अपेक्षा ऋजुमतिवाले का भी पतन नहीं होता, तथापि उपशम श्रेणी की अपेक्षा पतन संभव है।

‡ बुद्धि, तप, वैक्रियिक, औषध, रस, बल और अक्षीण इस प्रकार ऋद्धि के सात भेद होते हैं।

परन्तु विपुलमति ज्ञान सर्वथा अप्रतिपाती (होकर न छूटने वाला) है तथा ऋजुमति ज्ञान शुद्ध है, और विपुलमति ज्ञान इससे भी अधिक शुद्ध है। ऋजुमति ज्ञान वाला जीव दूसरे के मन में सरलता के साथ स्थित पदार्थ को पहले ईहा मतिज्ञान के द्वारा जानता है, पीछे प्रत्यक्ष रूप से नियम से ऋजुमति ज्ञान के द्वारा जानता है। परन्तु विपुलमति ज्ञान चिन्तित, अचिन्तित, अर्द्ध-चिन्तित, इस तरह अनेक भेदों को प्राप्त दूसरे के मनोगत, पदार्थ को अवधि के समान प्रत्यक्ष रूप से जानता है।

द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भाव की अपेक्षा से पुद्गल द्रव्य को तथा उसके सम्बन्ध से जीव द्रव्य को भी ऋजुमति और विपुल-मति जघन्य मध्यम और उत्कृष्ट तीन २ प्रकार से जानते हैं। ऋजुमति ज्ञान का जघन्य क्षेत्र दो तीन कोस और उत्कृष्ट सात आठ योजन है। विपुलमति का जघन्य क्षेत्र आठ नौ योजन तथा उत्कृष्ट मनुष्य लोक प्रमाण समझना चाहिये। यहां पर मनुष्य लोक का प्रयोजन उसका विष्कम्भ (लम्बाई चौड़ाई और ऊंचाई आदि का फैलाव) ग्रहण करना चाहिये। क्योंकि वह दूसरे के द्वारा चिन्तित, और मानुषोत्तर पर्वत के बाहर स्थित पदार्थ को भी जानता है। इसका कारण यह है, कि मनःपर्यय ज्ञान का उत्कृष्ट क्षेत्र प्रमाण समचतुरस्र (चारों तरफ से बराबर) घन प्रतर रूप पैंतालीस लाख योजन प्रमाण है। काल की दृष्टि से ऋजुमति का विषय जघन्य काल दो, तीन, भव और उत्कृष्ट सात, आठ, भव तथा विपुलमति का जघन्य आठ, नौ, भव और उत्कृष्ट पल्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण है।

यहां पर वस्तुतः 'विपुल' शब्द से विस्तीर्ण, विशाल, एवं गम्भीर अर्थ लेना चाहिये। जिसमें सरल कुटिल नानार्थक विषम

सम इत्यादि गर्भित हैं। इससे यह बात समझनी चाहिये, कि विपुलमति मनःपर्यय ज्ञान से दूसरे के मन में रहने वाले ऋजु, वक्र (टेढ़े) सम, विषम, सर्व प्रकार के रूपी पदार्थों का ज्ञान होता है। अपने और पर के जीवन, मरण सुख, दुख, लाभ, अलाभ, का भी ज्ञान हो जाता है। तथा जिस पदार्थ का व्यक्त मन, अथवा अव्यक्त मन, द्वारा चिन्तवन किया गया है, एवं नहीं चिन्तवन किया गया, या अगाड़ी जाकर चिन्तवन होगा, उन सब प्रकार के पदार्थों का विपुलमति मनःपर्यय ज्ञानी जान सकता है।

ऋजुमति और विपुलमति के भेद से दो प्रकार के मनःपर्यय ज्ञान का वर्णन कर दिया गया। अब उन दोनों प्रकार के भेदों में आपस में क्या विशेषता है ? यही बात बताने के लिये सूत्र कहते हैं—

विशुद्धय प्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः ॥२४॥

सूत्रार्थः—(विशुद्धय प्रतिपाताभ्यां) परिणामों की विशुद्धता से और अप्रतिपात (चारित्र से न गिरना) से अर्थात् केवल ज्ञान होने तक रहे, इससे प्रथम न छूटे, (तद्विशेषः) इन दोनों कारणों से ऋजुमति से विपुलमति मनःपर्यय ज्ञान बड़ा तथा पूज्य है।

विशेषार्थः—ऋजुमति मनःपर्यय ज्ञान से विपुलमति मनःपर्यय ज्ञान में परिणामों की विशुद्धता अधिक है। तथा ऋजुमति बीच में छूट भी जाता है, परन्तु विपुलमति केवल ज्ञान के होने तक कायम रहता है, बीच में छूटता नहीं है। मनःपर्यय ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम होने पर जो आत्मा की निर्मलता का होना है, उसका नाम 'विशुद्धि' है। 'प्रतिपात' का अर्थ 'गिरना' अथवा 'छूट जाना'

है। उपशान्त कषायी (ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती) मनुष्य चारित्र मोह कर्म की उत्कटता से संयम रूपी पर्वत से गिर जाता है, इस लिए उसकी अपेक्षा से ऋजुमति ज्ञान प्रतिपाती है। किन्तु क्षीण कषायी (बारहवां गुणस्थान वर्ती) मनुष्य के गिरने का कोई (कषाय) कारण शेष नहीं है, इस लिये उसके अप्रतिपात समझना चाहिये। विपुलमति ज्ञानी संयम के शिखर से नहीं गिरता है। अतएव वह अप्रतिपात है। परन्तु ऋजुमति ज्ञानी संयम के पर्वत से गिर भी (उपशान्त कषायी की अपेक्षा) जाता है, अतएव वह प्रतिपात भी है। किन्तु ऋजुमति ज्ञानी क्षपक भी होता है, जो क्षपक होता है, वह अप्रतिपात ही समझना चाहिये। ऋजुमति ज्ञान एक बार ही नहीं,अनेक बार उत्पन्न होकर छूट भी जा सकता है किन्तु विपुलमति ज्ञान में यह बात नहीं है।

ऋजुमति जिस पदार्थ को जितनी सूक्ष्मता के साथ जान सकता है, विपुलमति उसी पदार्थ को नाना प्रकार से विशिष्ट गुण पर्यायों के द्वारा अत्यन्त अधिक सूक्ष्मता के साथ जानता है ऋजुमति उपशम और क्षपक दोनों श्रेणियों पर चढ़ता है, किन्तु विपुलमति सिर्फ क्षपक पर ही चढ़ता है, अतएव विपुलमति का किसी भी दशा में पतन नहीं होता। इस प्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव,की अपेक्षा से 'विशुद्धि' समझलेना चाहिये। जो पुरुष विपुलमति ज्ञान के धारी होते हैं, उनके कषायों की उत्तरोत्तर मंदता से निरन्तर उनका चारित्र वर्द्धमान रहता है, एवं उनके कर्म के क्षयोपशम की प्रकृष्ट विशुद्धता रहती है, इस लिये वह छूटता नहीं है, और ऋजुमति ज्ञान वाले के कषायों का उद्रेक (जोर या उदय) रहनेके कारण दिनों दिन उसका चारित्र हीयमान अर्थात् कम होता चला जाता है, इस लिये वह प्रतिपाती भी

होता है, अर्थात् बीच में ही छूट सकता है। विपुलमति मनःपर्यय ज्ञान नियम से केवल ज्ञान को उत्पन्न करता है, तथा सर्वावधि ज्ञान से जो कार्माण द्रव्य का अनन्तवां भाग रूपी द्रव्य को जाने, उसका अनन्तवां भाग ऋजुमति ज्ञानी जानता है, और उसका भी अनन्तवां भाग विपुलमति ज्ञानी ‡जानता है। इस तरह से द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भाव सम्बन्धी न्यूनाधिक विशुद्धता एवं प्रतिपाती तथा अप्रतिपातीपने से ऋजुमति और विपुलमति मनःपर्यय ज्ञान में विशेषता है।

अब अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान में परस्पर क्या विशेषता है? यही बात प्रकट करने के लिये सूत्र कहते हैं—

विशुद्धि क्षेत्र स्वामि विषयेभ्योऽवधि मनःपर्यययोः ॥२५॥

सूत्रार्थः—(अवधि मनःपर्यययोः) अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान में भी (विशुद्धिक्षेत्रस्वामि विषयेभ्यः) विशुद्धता, क्षेत्र, स्वामी और विषय, इन चारोंकी विशेषता से (विलक्षणता से) भेद (फर्क) होता है। अर्थात् मनःपर्यय, विशुद्ध, अल्पक्षेत्र, अल्पस्वामी, और सूक्ष्म विषय वाला है, और अवधिज्ञान, अविशुद्ध, बड़ा क्षेत्र, बहुत स्वामी, और स्थूल विषय वाला, होता है। ॥ २५ ॥

विशेषार्थः—विशुद्धि, क्षेत्र, स्वामी, और विषय की अपेक्षा से अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञानमें भेद (फर्क) है। अवधिज्ञानकी अपेक्षा मनःपर्यय ज्ञान अधिकतर विशुद्ध है। जितने रूपी पदार्थों

---

‡ ऋजुमते विपुलमति र्द्रव्यक्षेत्र काल भावैर्विशुद्धतरः। कथमिह? यः कार्माण द्रव्यानन्तभागोऽन्त्यःसर्वावधिना ज्ञातस्तस्य पुनरनन्त भागीकृतस्यान्त्यो भागः ऋजुमतेर्विषयः। तस्य ऋजुमति विषयस्यानन्तभागी कृतस्यान्त्यो भागो विपुलमतेर्विषयः। अनन्तस्यानन्त भेदत्वात् ॥ स० सि०

को अवधि ज्ञान वाला जानता है, उसको मन:पर्यय ज्ञानी मनोगत होने पर भी अधिकतर शुद्धता से जान लेता है। अवधि ज्ञानी से मन:पर्यय ज्ञानी के परिणामों में अधिकतर विशुद्धता रहती है। अवधिज्ञानी से मन:पर्यय ज्ञानी का क्षेत्र अल्प (थोड़ा) है। अवधिज्ञान की उत्पत्ति का स्थान त्रसनाली पर्यन्त है, और विषय का क्षेत्र सर्व लोक है। मन:पर्यय ज्ञान मनुष्य लोक में ही उत्पन्न होता है, और मनुष्य लोक का विष्कम्भ (लम्बाई चौड़ाई का फैलाव) पैंतालीस लाख योजन चौड़ा और उतना ही लम्बा समान चौकोर घन प्रतर रूप क्षेत्र (ऊंचाई थोड़ी है) इसका विषय है। क्योंकि मानुषोत्तर पर्वत के बाहर चारों कौनों में रहने वाले देव और तिर्यंच द्वारा चिन्तित और स्थित पदार्थों को भी विपुलमति वाला जीव जान सकता है।

अवधिज्ञान का स्वामी अपर्याप्त अवस्था वाला जीव हो सकता हैं, परन्तु अपर्याप्त अवस्था वाला जीव मन:पर्यय ज्ञान का स्वामी नहीं हो सकता। अर्थात् अवधिज्ञान तो अपर्याप्त अवस्था में भी हो सकता है, परन्तु मन:पर्यय ज्ञान नहीं हो सकता। अवधिज्ञान से मन:पर्यय ज्ञान के स्वामी (ज्ञान के प्रयोग करने वाले) थोड़े हैं, अर्थात् संख्या में कम हैं। क्योंकि अवधिज्ञान चारों गति के सैनी पंचेन्द्रिय जीवों के होता है। और मन:पर्यय ज्ञान कर्म भूमि के पर्याप्तक गर्भज मनुष्यों के ही छटवें गुणस्थान से बारहवें गुण-स्थान तक उत्पन्न होता है। अवधि ज्ञान से मन:पर्यय ज्ञान का विषय सूक्ष्म है। कार्माण द्रव्य के जिस अन्तिम अनन्तवें भाग को सर्वावधि ज्ञान द्वारा जान लिया है, उस अनन्तवें भाग का भी अनन्तवां भाग ऋजुमति मन:पर्यय ज्ञान का विषय है। और जिस अनन्तवें भाग को ऋजुमति ज्ञान वाले ने विषय कर लिया

है, उसका भी अनन्तवां भाग जो कि दूर व्यवहित और सूक्ष्म है, वह विपुलमति का विषय है। विपुलमति ही मनःपर्यय ज्ञान का उत्कृष्ट भेद है।

अवधिज्ञान तो संयमी साधु और असंयमी जीव, तथा संयतासंयत श्रावक इन सब को भी हो सकता है, और चारों ही गतियों में हो सकता है। परन्तु मनःपर्ययज्ञान संयमी साधु के ही हो सकता है, और संयमियों में भी ऋद्धिधारी साधुओं, एवं उत्कृष्ट चारित्र वालोंके ही होता है। इसके अतिरिक्त सञ्ज्ञा (नाम) संख्या, (तादाद) लक्षण, प्रयोजनादि की अपेक्षा से भी इन दोनों में अन्तर (फर्क़) है, परन्तु इनका अन्तर्भाव इन्हीं चार कारणों में हो जाता है। इस प्रकार अवधिज्ञान की अपेक्षा मनःपर्यय ज्ञान को अधिक उत्कृष्ट समझना चाहिये। जैसे–एक मनुष्य तो अपने पढ़े हुये ग्रन्थ का ही, और एक ही प्रकार से, अर्थ कर सकता है, परन्तु दूसरा आदमी पढ़े और बिना पढ़े ग्रन्थों का, और अनेक प्रकार से अर्थ कर सकता है, इनमें से जैसे दूसरे आदमी का ज्ञान उत्कृष्ट समझा जाता हैं, उसी प्रकार अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान में उत्कृष्टता और अनुत्कृष्टता समझ लेना चाहिये। क्षयोपशम ज्ञानों में मनःपर्यय ज्ञान ही सर्वोत्कृष्ट होता है।

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, और मनःपर्ययज्ञान, इस प्रकार इन चारों क्षयोपशम ज्ञानों का वर्णन हो चुका। अब यहां किस २ ज्ञान का कितना २ विषय है ? यह बताना आवश्यक है, इस लिये प्रथम मतिज्ञान और श्रुतज्ञान के विषय को बताने के लिये सूत्र कहते हैं—

मति श्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्व सर्व पर्यायेषु ॥२६॥

सूत्रार्थः- (मतिश्रुतयोः) मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का (निबन्धः) विषयों के जानने का सम्बन्ध वा नियम (द्रव्येषु) द्रव्यों की (असर्व पर्यायेषु) कुछ पर्यायों में है। अर्थात् मतिज्ञान और श्रुत-ज्ञान जीवादि छहों द्रव्योंकी समस्त पर्यायोंको नहीं जानते, थोड़ीर पर्यायों (हालतों) को ही जानते हैं।

विशेषार्थः—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, और काल के भेद से द्रव्य छह प्रकार के माने गये हैं। सूत्र में 'द्रव्येषु' सप्तमी विभक्ति के बहु वचनान्त पदसे छहों द्रव्यों को ग्रहण किया गया है अर्थात् इन दोनों ज्ञानों के द्वारा जीव समस्त द्रव्यों को तो जान सकता है, मगर उनकी (छहों द्रव्यों की*) सम्पूर्ण पर्यायों को नहीं जान सकता। तथा मतिज्ञान, श्रुतज्ञान के विषयभूत द्रव्यों की कुछ ही पर्यायें हैं। सर्व अथवा अनन्त पर्यायें नहीं हैं। क्योंकि रूप आदि पदार्थों के जानने में मति ज्ञान चक्षु आदि की अपेक्षा रखता है। अतएव चक्षु आदि इन्द्रियों में इतनी सामर्थ्य नहीं, कि वे पदार्थों की सर्व वा अनन्त पर्यायों को ग्रहण कर सकें। एवं मतिज्ञान पूर्वक ही श्रुत ज्ञान होता है। ये दोनों ही ज्ञान परापेक्ष अर्थात् पराधीन (दूसरोंकी सहायता पर निर्भर) हैं। जब इन्द्रियों का विषय और क्षेत्र नियत है अथवा सीमित है, तो उनके द्वार अनन्त पर्यायों का ज्ञान कैसे होसकता है? मन की भी इतनी शक्ति नहीं है, कि वह धर्मादिक सभी द्रव्यों की सूक्ष्म पर्यायों का ज्ञान कर सके। अत एव श्रुत (ग्रन्थ या शास्त्र) के अनुसार ये दोनों ही ज्ञान सम्पूर्ण द्रव्यों को और उनकी कुछ ही पर्यायोंको जान सकते

‡ जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, और काल ये छह द्रव्य होते हैं इनका विस्तृत विवेचन पांचवें अध्याय में किया गया है।

हैं, सम्पूर्ण पर्यायों को नहीं जान सकते हैं। मतिज्ञान और श्रुत ज्ञान के विषय का निरूपण करने के लिये सूत्र कहते हैं—

रूपिष्ववधेः ॥२७॥

सूत्रार्थः—(अवधेः) अवधिज्ञान के विषय का नियम (रूपिषु) रूपी मूर्तिक पदार्थों में है। अर्थात् अवधिज्ञान पुद्गल द्रव्य की पर्यायों को ही जानता है। ॥२७॥

विशेषार्थः—अवधिज्ञान का विषय रूपी द्रव्य है। जीवादिक छहों द्रव्यों में पुद्गल द्रव्य ही सिर्फ रूपी है, इसलिये वह सिर्फ पुद्गलको ही ग्रहण कर सकता है। 'रूपी' शब्दसे रूप,रस,गन्ध, और स्पर्श युक्त पदार्थ को ग्रहण करना चाहिये। क्योंकि ये चारों ही गुण अविनाभावी होने के कारण एक के ग्रहण से सबों का ग्रहण हो जाता है, किन्तु पुद्गल द्रव्य की भी सम्पूर्ण पर्यायों को नहीं ग्रहण कर सकता, क्योंकि अवधिज्ञानी चाहे जैसे अति विशुद्ध अवधि ज्ञान को धारण करने वाला क्यों न हो, परन्तु वह भी रूपी द्रव्य की सम्पूर्ण पर्यायों को नहीं जान सकता। पुद्गल द्रव्य के अनन्त पर्याय हैं, वे सभी अवधि ज्ञान के विषय भूत नहीं हैं। जीव के औदयिक औपशमिक, और क्षायोपशमिक, परिणामों को ही रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, विशिष्ट होजाने के कारण जान सकता है। जीव के क्षायिक, पारिणामिक भाव तथा धर्म,अधर्म आकाश, काल, इन को अरूपी द्रव्य होने के कारण नहीं जान सकता है।

क्रमानुसार अब मनः पर्यय ज्ञान के विषय को बताने के लिये सूत्र कहते हैं —

तदनन्त भागेमनः पर्ययस्य ॥२८॥

सूत्रार्थः—जो रूपी द्रव्य,सर्वावधि ज्ञानका विषय है (तदनन्तभागे)

उसका अनन्तवां भाग भी सूक्ष्म द्रव्य (मनः पर्ययस्य) मनः पर्यय ज्ञान का विषय हो सकता है।

विशेषार्थः—अवधि ज्ञान के तीन भेद हैं। देशावधि, परमावधि, सर्वावधि। उन में सब से सूक्ष्म विषय (एक परमाणु) सर्वावधि का है। इससे उसी के विषयका अनन्तानन्त अविभाग प्रतिच्छेदों की अपेक्षा भाग किया हैं। मनः पर्ययज्ञानी अन्तःकरण रूपी मन के विचारों में आये हुये रूपी द्रव्यों को एवं मनुष्य क्षेत्रवर्ती अवधिज्ञान की अपेक्षा अति विशुद्ध और सूक्ष्मतर एवं बहुतर पर्यायों के द्वारा उन रूपी द्रव्यों को जान सकता है। परन्तु अवधिज्ञान की तरह यह भी अपने विषय की सम्पूर्ण पर्यायों को नहीं जान सकता, फिर भी मनः पर्यय सूक्ष्म विषय को विशेष रूप से जानता है। साराशतः जितना अवधिज्ञान का विषय है, उस का अनन्तवां भाग मनः पर्ययज्ञान का विषय समझना चाहिये। अतएव यह अवधिज्ञान से भी अधिक प्रशस्त है।

क्रमानुसार अब केवलज्ञान के विषय को बताने के लिए सूत्र कहते हैं—

सर्व द्रव्य पर्यायेषु केवलस्य ॥२६॥

सूत्रार्थः—(केवलस्य) केवलज्ञान के विषय का नियम (सर्व द्रव्य पर्यायेषु) समस्त द्रव्यों की समस्त पर्यायों में है। अर्थात् एक २ द्रव्य की त्रिकालवर्ती अनन्तानन्त पर्यायें हैं। छहों द्रव्यों की समस्त अवस्थाओं को केवलज्ञान युगपत् जानता है।

विशेषार्थः—केवलज्ञान समस्त पदार्थों को विषय करने वाला है, और लोकालोक के विषय में आवरण रहित है, तथा जीव द्रव्य की ज्ञान शक्तिके जितने अंश हैं, वे यहां पर सम्पूर्ण व्यक्त

होगये हैं, इसलिये उसको 'सम्पूर्ण ज्ञान' कहते हैं। मोहनीय और अन्तराय का सर्वथा क्षय हो जाने के कारण वह 'अप्रतिहत-शक्ति' युक्त है। यह इन्द्रियोंकी सहायता की अपेक्षा नहीं रखता। समस्त पदार्थों के विषय करने में उसका कोई बाधक नहीं है। जीव पुद्गलादिक सम्पूर्ण द्रव्योंको तथा उनकी त्रिकालवर्ती सम्पूर्ण सूक्ष्म और स्थूल अनन्तानन्त पर्यायों को युगपत् (एक साथ) जानना इस केवलज्ञान का विषय है। लोकालोक के समस्त पदार्थ इस ज्ञान में दर्पण की तरह झलकते हैं। ज्ञानावरणादि चार घातिया कर्मों के सर्वथा क्षय से उत्पन्न होने के कारण 'क्षायिक ज्ञान' कहलाता है। इससे बड़ा और कोईभी ज्ञान नहीं है। और न ऐसा कोई ज्ञेय (पदार्थ) ही है, कि जो केवलज्ञान का विषय होने से शेष रह जावे। किसी भी मतिज्ञानादि क्षायोपशमिक ज्ञान से इसकी तुलना नहीं हो सकती, इसलिये इसको 'असाधारण ज्ञान' कहते हैं। अगुरुलघु गुण के निमित्तसे इसकी अनन्त पर्यायों का परिणमन होता है, इस लिये इसको 'अनन्त पर्याय' कहते हैं। अथवा इसकी ज्ञेय रूप पर्याय अनन्त है। यद्वा इसके अविभाग प्रतिच्छेद (अविभागी अंश) अनन्त हैं, इस कारण भी इसको 'अनन्त पर्याय' कहते हैं। सारांशतः यह अनन्त शक्ति और योग्यता को धारण करनेवाला 'अप्रतिम' है। यह ज्ञान‡ हाथ

‡ केवली के ज्ञान में प्रमाण आन सब भासे लोक और अलोकन की जेती कछु बात है। अतीत काल भई है, अनागत होयगी, वर्तमान समय की विदित यों विख्यात है। चेतन अचेतन के भाव विद्यमान सबै एक ही समय में जो अनन्त होत जात हैं। ऐसी कछु ज्ञान की विशुद्धता विशेष बनी ताको धनी यहै हंस कैसे विललात है।

"भैया भगवतीदास कृत, ब्रह्म विलास"

में रक्खे हुये आवलों की तरह लोकालोक के समस्त पदार्थों को युगपत् जानता है, इसलिये इसको 'लोकालोक प्रकाशक' कहते हैं सर्वज्ञता भी इसी का दूसरा पर्याय वाची नाम है।

इन मतिज्ञानादि पांच प्रकार के ज्ञानों में से एक समय में एक जीव के कितने ज्ञान हो सकते हैं ? इसी बात को बताने के लिये सूत्र कहते हैं—

एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्ना चतुर्भ्यः ॥३०॥

सूत्रार्थः—(एकस्मिन्) एक जीव में (एकादीनि) एक को आदि लेकर (भाज्यानि) विभाग किये जाने पर (युगपत्) एक साथ (आचतुर्भ्यः) चार ज्ञान तक हो सकते हैं। 'भक्तुं योग्यानि भ्याज्यानि' अर्थात् ये ज्ञान विभाग करने योग्य हैं।

विशेषार्थः—एक जीव के यदि एक ज्ञान हो तो केवलज्ञान होता है, दो ज्ञान हों तो मतिज्ञान और श्रुतज्ञान होते हैं, तीन ज्ञान हों तो मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, और अवधिज्ञान होते हैं, अथवा मतिज्ञान, श्रुतज्ञान,और मनःपर्यय ज्ञान भी हो जाते हैं। एवं चार हों तो मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, और मनः पर्ययज्ञान होते हैं। इनमें से श्रुतज्ञानका मतिज्ञान के साथ सहभाव नियत है। क्योंकि श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक ही होता है, परन्तु जिसके मतिज्ञान है, उसके अक्षरात्मक श्रुतज्ञान हो अथवा न हो, कोई नियम नहीं है। इसी अक्षरात्मक श्रुतज्ञान की अपेक्षा कोई२ आचार्य अकेला मतिज्ञान होने का भी उल्लेख करते हैं। अर्थात एक ज्ञान के होने में केवलज्ञान भी हो सकता है, और मतिज्ञान भी हो सकता है। शेष प्रक्रिया पूर्ववत् समझनी चाहिये।

किसी किसी आचार्य का कहना है, कि केवलज्ञान होजाने पर

भी मतिज्ञान आदि क्षयोपशम ज्ञानों का सर्वथा अभाव नहीं होता, किन्तु ये ज्ञान केवलज्ञान से अभिभूत (पराजित) हो जाते हैं। अर्थात् केवलज्ञान होजाने पर इन्द्रियां† तदवस्थ (जैसी की तैसी) रहती हैं, परन्तु वे अपना कुछ भी कार्य नहीं कर सकतीं। इसी प्रकार मतिज्ञानादिकमें समझना चाहिये, अथवा जैसे-सूर्यके उदय होने पर आकाश में नक्षत्रादिकों का अभाव नहीं हो जाता, किन्तु सूर्य के प्रखर तेज के कारण आच्छादित (ढक जाना) होजाते हैं। अर्थात् वे अपना प्रकाश कार्य करने में अकिंचित्कर होजाते हैं।

इसी विषय में दूसरे अन्य आचार्यों का मत इससे सर्वथा, भिन्न है। उनका कहना है, कि केवली भगवान के मतिज्ञानादिक

---

† इस विषय में ऐसा समझना चाहिये कि केवली भगवान् के द्रव्येन्द्रिय की अपेक्षा से इन्द्रियां रहती हैं, न कि भावेन्द्रिय की अपेक्षा से। क्योंकि भावेन्द्रियों की विद्यमानता में समस्त ज्ञानावरण कर्म का क्षय नहीं होसकता है। औरज्ञानावरण कर्म के निर्मूल हुये विना सर्वज्ञपना भी नहीं हो सकता है, यदि केवली (सयोग या अयोग) भगवान के भावेन्द्रियों की सत्ता मानी जायगी,तो उनकेज्ञानावरणकर्मका क्षय भी नहीं हो सकेगा, अतः वे सर्वज्ञ भी नहीं कहे जासकेंगे। जहां पर भावेन्द्रिय हैं,वहीं पर मतिज्ञानादि क्षयोपशम ज्ञानों का आविर्भाव होता है,केवल द्रव्येन्द्रिय के अस्तित्व काल में नहीं क्योंकि द्रव्येन्द्रिय की सत्ता को 'जली हुई जेवरी के समान' निः शक्तिक माना है, वह ज्ञानों की उत्पत्ति में मुख्य कारण नहीं है। इस लिये केवलज्ञान के उदय रहने पर जब भावेन्द्रियों का अस्तित्व नहीं रहता, तब केवल ज्ञान के साथ कारण भावेन्द्रिय के अभाव में कार्य रूप मति ज्ञानादि नहीं हो सकते हैं। अतः एक आत्मा में भाज्य रूप मति ज्ञान से लेकर चार ज्ञान तक एक साथ हो सकते हैं। किन्तु पांचों ज्ञान एक साथ नहीं हो सकते हैं। वास्तविक और सत्य सिद्धान्त यही प्रतीत होता है।

का सर्वथा अभाव ही हो जाता है, सिर्फ केवलज्ञान ही रह जाता है। क्योंकि मतिज्ञानादिक क्षायोपशमिक ज्ञान हैं, केवलज्ञान क्षायिक ज्ञान है। जब ज्ञानावरणी कर्म का सर्वथा क्षय हो चुका, तो फिर क्षायोपशमिक ज्ञानों की सत्ता शेष कैसे रह सकती है? क्षायोपशमिक ज्ञान क्रमवर्ती होते हैं, परन्तु केवलज्ञान ऐसा नहीं है। केवलज्ञान तो समस्त पदार्थों को युगपत् विषय किया करता है, अतएव केवली भगवान के केवलज्ञान ही रहा करता है। बाकी के चार ज्ञान उनके नहीं होते, ऐसा ही ठीक मालूम होता है इस आवश्यक और मनोरंजक विषय पर अन्य विद्वानों को भी विचार करना चाहिये।

क्षायोपशमिक और क्षायिक ज्ञान में परस्पर विरोध है, इस लिये केवलज्ञान जब क्षायिक ज्ञान है,तो उसके साथ मतिज्ञानादिक चारों क्षायोपशमिक ज्ञानों का सहभाव नहीं रह सकता। हमारा हृदय भी इसी बात को स्वीकार करता है, कि केवलज्ञान की उपस्थिति में मतिज्ञानादिक अन्य चार ज्ञानों का सद्भाव नहीं रहता है। यदि ऐसा न मानें तो पांचों† ज्ञानों का अस्तित्व युगपत् हुवा जाता है, जो कि मूल सूत्र के सिद्धान्त से विरुद्ध होता है।

अब प्रमाणाभास (मिथ्याज्ञान) रूप ज्ञानों का वर्णन करने के लिये सूत्र कहते हैं।

---

† इन पांचों ज्ञानों में से केवलज्ञान ही सिर्फ़ असहाय ज्ञान है, वह कर्मों के क्षयोपशम की अपेक्षा नहीं रखता है। मति, श्रुत, अवधि, और मनः पर्यय, इन चार ज्ञानों में कर्मों के क्षयोपशम की अपेक्षा रहती है। इसलिये ये चार ज्ञान असहाय नहीं हैं। इस प्रकार उक्त चार ज्ञानों में और केवलज्ञानमें विरोध रहने के हेतु से पांच ज्ञानों का एक साथ होना असंभव है।

मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च ॥३१॥

सूत्रार्थ:—(मतिश्रुतावधयः) मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, और अवधि-ज्ञान ये तीन ज्ञान (विपर्ययः च) विपरीत अर्थात् उल्टे मिथ्यारूप भी होते हैं।

विशेषार्थ:—उपर्युक्त तीनों ज्ञान सम्यग्ज्ञान भी होते हैं, और मिथ्याज्ञान भी। इन तीनों ज्ञानों के साथ में जब सम्यग्दर्शन का सद्भाव होता है, तो ये ही ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहे जाते हैं, इसके विरुद्ध जब मिथ्यादर्शन का योग (मेल) होता है,तो इनकी 'मिथ्या ज्ञान' संज्ञा हो जाती है। अज्ञान (मिथ्याज्ञान) अवस्था में इनको कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान, और कुअवधि ज्ञान (विभंगावधि ज्ञान) कहा जाता है। और सम्यग्ज्ञान दशा में सुमतिज्ञान, सुश्रुतज्ञान, सुअवधिज्ञान, नाम हो जाता है। वस्तुत: (दर असल) ज्ञान तो ज्ञान ही कहा जायगा, परन्तु मिथ्यात्व के संयोग से मतिज्ञानादिक मिथ्याज्ञान कहे जाते हैं। जैसे—रज सहित कड़वी तूंबी में रक्खा हुवा दूध कड़वा होजाता है, और अपने मधुर स्वभाव को छोड़ देता है, उसी प्रकार मतिज्ञानादिक तीनों ज्ञानोंका आधार दर्शन मोह कर्म के उदयसे मिथ्यात्व सहित आत्मा है। अत: जब आधार आत्मा में मिथ्यात्व दोष है, तब आधेय स्वरूप मति ज्ञा-नादिक में भी दोष आवेगा। कोई मनुष्य लौकिकज्ञान की दृष्टि से कितनी ही अपनी उन्नति करले, और कितनी ही उपाधियां प्राप्त कर ले, यहां तक कि वह कितनेही प्रकार के नवीन नवीन आवि-ष्कार ही क्यों न कर लेवे, परन्तु जब तक उस की आत्मा में सम्यग्दर्शन का प्रादुर्भाव नहीं होगा, तब तक उसका ज्ञान मिथ्या ज्ञान (अज्ञान) ही कहा जायगा। क्योंकि यहां पर मोक्ष मार्ग का

प्रकरण होने से उसी (सम्यग्दर्शन सहित ज्ञानकी) की अपेक्षा लेना चाहिये, लौकिक ज्ञान की नहीं।

जैसे वर्तमान काल के रेल, तार, टेलीफोन, वायुयान, ग्रामोफोन आदि आविष्कार भी मिथ्याज्ञान में सम्मिलित हैं। और इस प्रकारके कितने ही आविष्कार प्राचीन काल में भी होना सिद्ध है। ऐसा नहीं है, कि अंग्रेजों ने ही इस प्रकार के आविष्कार किये हैं। परन्तु इस प्रकार के आविष्कारों को प्राचीन काल में इतना महत्व नहीं दिया जाता था और न इस तरफ लोगों की इतनी विशेष रुचि ही थी, जितना कि अब इस तरफ ध्यान है। यद्यपि इस विषय की आजकल के वैज्ञानिकों ने अधिक उन्नति की है, परन्तु प्राचीन काल में भी इनका सर्वथा अभाव नहीं था। जैसे-जीवन्धर महाराज के पिता सत्यन्धर राजा ने अपने शत्रु काष्ठांगार द्वारा किये गये षड्यंत्र का पता लगते ही 'केकीयंत्र' अर्थात् मयूर की आकृति का एक उड़ने वाला यंत्र बनाया था। और उस में अपनी गर्भवती रानी विजयासुन्दरी को बिठा कर आकाश में उड़ाया था, परन्तु कर्म योग से वह वायुयान राजपुरी के श्मशान में गिर पड़ा, और वह गिरते ही उसके कल पुर्जे खराब होने से पृथ्वी पर गिरते ही टूट गया। आज कल भी वायुयान मयूर की आकृति के ही बनाये जाते हैं, और वे खराब भी हो जाते हैं, तथा गिर भी पड़ते हैं। इस विषय की अधिक मनोरंजक कथा क्षत्र चूड़ामणी, जीवंधर चम्पू, और गद्य चिन्तामणि, में विस्तार के साथ लिखी है। अतएव इन ग्रन्थों को देखना चाहिये।

इस कथा से यह बात तो अच्छी तरह सिद्ध होती है कि प्राचीन काल में भी इस प्रकार के आविष्कारों का अभाव नहीं था, परन्तु पुरुषों का ध्यान, आत्मसाधन की ओर अधिक था। इधर

भौतिकवाद और भोग विलास के साधनों में कम था। वस्तुतः यदि देखा जाय, तो इन आविष्कारों की तरफ जब से लोगों का ध्यान अधिक आकृष्ट हुआ है, तब से उतनी ही लोगों में आकुलतायें एवं प्राण नाश की संभावनायें बढ़ गई हैं, सुख और शान्ति तो इस से नाम मात्र को भी नहीं मिलती हैं। अत एव इन आविष्कारों के चक्कर में उन मनुष्यों को नहीं पड़ना चाहिये कि जो वास्तविक सच्चा सुख और शान्ति चाहते हैं।

इन तीनों विपरीत ज्ञानों में मनः पर्यय और केवल ज्ञान का ग्रहण नहीं किया गया, क्योंकि मिथ्यात्व के कारणों के सर्वथा नष्ट हो जाने पर सम्यग्दर्शन की प्रकटता से आत्मा में अत्यन्त निर्मलता होने पर मनः पर्यय ज्ञान और केवल ज्ञान प्रगट होते हैं। मिथ्यात्व के सम्बन्ध से सर्वथा दूर रहने के कारण मनः पर्यय और केवल ज्ञान को मिथ्याज्ञानों में ग्रहण नहीं किया है। किसी २ के छटवें गुणस्थान में भी चारित्र मोह कर्म के उपशम होने से मनः पर्ययज्ञान प्रगट होजाता है। और केवल ज्ञान तो क्षायिक ज्ञान है, वह अज्ञान कैसे कहा जासकता है? सामान्यतः 'विपर्यय' का अर्थ मिथ्याज्ञान ही समझना चाहिये। परन्तु फिर भी संशय, विपर्यय, और अनध्यवसाय का भी ग्रहण‡ करना

‡इस विषय में यह बात विशेषतया स्मरण रखना चाहिये, कि मतिज्ञान इन्द्रिय और मन से होता है। अतः उसके संशय, विपर्यय, और अनध्यवसाय, ये तीनों मिथ्याज्ञान हो सकते हैं, और श्रुतज्ञान भी मनकी सहायता से होता है, इसलिये उसके भी संशय विपर्यय और अनध्यवसाय ये तीनों मिथ्याज्ञान हो सकते हैं। किन्तु अवधिज्ञान के विपर्यय और अनध्यवसाय ये दो ही मिथ्याज्ञान होते हैं, संशय नहीं होता है। क्योंकि यह 'स्थाणु है वा पुरुष'? ऐसे अनेक कोटियों को स्पर्श करनेवाले ज्ञानको 'संशय' कहते

चाहिये, क्योंकि मिथ्याज्ञानी तत्वोंके यथार्थ स्वरूप को ग्रहण नहीं कर सकता † है। इसी कारण उसको सच्चा सुख प्राप्त नहीं होता।

हैं। और जहां पर अन्धकार रहने से दूर में स्थित पदार्थ 'स्थाणु वा पुरुष' ऐसा स्पष्ट ज्ञान होने से उन दोनों में रहने वाले 'ऊर्ध्वता सामान्य' का प्रत्यक्ष है। वक्र, कोटर, आदि स्थाणु (ठूंठ) के विशेष एवं शिर, हाथ, आदि पुरुष के विशेष अवयवों का प्रत्यक्ष नहीं, किन्तु पहले उनका ज्ञान हो चुका है, इस लिये मन के द्वारा उनका स्मरण है। इस तरह से जहां-पर सामान्य प्रत्यक्ष, विशेष प्रत्यक्ष, और विशेष स्मरण है, वहीं पर संशय ज्ञान होने के कारण इन्द्रियों के आधीन इस की उत्पत्ति मानी गई है। परन्तु अवधिज्ञान में इन्द्रियों के व्यापार की कोई अपेक्षा नहीं, न मन के व्यापार की कोई अपेक्षा है, क्योंकि अवधिज्ञान को इन्द्रिय और मन से रहित माना है, किन्तु अवधिज्ञानावरण के क्षयोपशम की विशुद्धता रहने पर वह सामान्य विशेष रूप अपने विषयभूत पदार्थों को जानता है। इसलिये अवधिज्ञान में संशय नहीं हो सकता है। परन्तु हां, मिथ्यात्व कर्म के विपरीत श्रद्धान स्वरूप मिथ्या दर्शन के साथ अवधिज्ञान रहता है, इस लिये वह विपरीत स्वरूप अवश्य है। तथा जिस पदार्थ की ओर अवधि-ज्ञान का उपयोग लगा हुवा है, कारण वश उसका पूरा ज्ञान न होने के प्रथम ही, दूसरे किसी ज्ञान के विषयभूत दूसरे ही पदार्थ की ओर उपयोग लग जाय, उस समय मार्ग में जाते हुये पुरुषको 'तृण स्पर्श ज्ञानके समान' अनिश्चयात्मक अवधिज्ञान हो जाता है। अतएव अवधिज्ञान का विपरीत परिणमन अनध्यवसाय रूप भी होता है, किन्तु जिस समय जिस पदार्थ को अवधिज्ञान विषय कर रहा है, उस समय यदि वह उपयोग दृढ़ होगा, तो अवधिज्ञान का अनध्यवसाय रूप विपरीत परिणमन नहीं हो सकता है। (देखो श्लोकवार्तिक पृष्ठ २५६)

† मिच्छाइट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं ण सद्दहदि।
सद्दहदि असब्भावं उवइट्ठं वा अणुवइट्ठं ॥१८॥ गो. सा.

यदि कोई 'अग्नि' को शीतल समझकर स्पर्श करे तो अन्त में उस को दुख ही प्राप्त होगा। इसी प्रकार मिथ्या दृष्टि के ज्ञान का उपयोग पदार्थों के यथार्थ स्वरूप के जानने में नहीं होता। मिथ्याज्ञान और सम्यग्ज्ञानका भेद लौकिक ज्ञान की अपेक्षा से नहीं है, किन्तु मोक्ष मार्ग अथवा वस्तु के यथार्थ स्वरूप के जाननेकी दृष्टि से है।

मिथ्या दृष्टि दो प्रकार के होते हैं, एक भव्य, दूसरे अभव्य। जो सिद्ध अवस्था को किसी भी समय प्राप्त कर सकते हैं, उन्हें 'भव्य' कहते हैं, और इनके विपरीत जो सिद्ध अवस्था को किसी भी काल में प्राप्त नहीं हो सकते हैं, उनको 'अभव्य' समझना चाहिये। ये दोनों ही प्रकार के मिथ्यादृष्टि, सम्यग्दृष्टि के समान ‡ ही घटपटादि पदार्थों एवं रूप रसादि को ग्रहण और निरूपण करते हैं, परन्तु जो तत्व मोक्ष मार्ग में सहायक हैं, उन का ज्ञान मिथ्यादृष्टि को विपरीत होता है। इसी अपेक्षा मिथ्यादृष्टि के ज्ञान को 'मिथ्याज्ञान'† और सम्यग्दर्शन सहित जीव के ज्ञानको 'सम्यग्ज्ञान' कहा गया है।

अब नीचे लिखे सूत्र द्वारा मिथ्याज्ञान का विशेष वर्णन करते

---

‡ तथा हि, सम्यग्दृष्टि र्यथा चक्षुरादिभिःरूपादीनु लभते, तथा मिथ्यादृष्टिरपि मत्यज्ञानेन, यथा सम्यग्दृष्टिःश्रुतेन रूपादीनि जानाति च निरूपयति तथा मिथ्यादृष्टिरपि श्रुताज्ञानेन, यथा चावधिज्ञानेन सम्यग्दृष्टिःरूपिणोऽथानवगच्छति, तथा मिथ्यादृष्टि विंभंग ज्ञानेन इति। स० सि०

† दर्शन मोह के उदय से आत्मा का मिथ्यादर्शन परिणाम और मतिज्ञानादि दोनों एक साथ और एक स्थान में ही आत्मा में रहते हैं। इसलिये मिथ्यादर्शन के सम्बन्ध से मतिज्ञान आदिको भी मिथ्याज्ञान कहते हैं। जैसे कडुवी तूम्बी में रक्खा हुवा दूध कटुक रज के संसर्ग से दूध भी कडुआ हो जाया करता है, यही बात मिथ्या ज्ञानों के विषय में है।

हैं —

सदसतोरविशेषाद्य दृच्छोपलब्धे रुन्मत्तवत् ॥ ३२॥

सूत्रार्थः-(सदसतोः) सत् और असत रूप पदार्थों के (अविशेषात)विशेष का अर्थात् भेद का ज्ञान नहीं होनेसे (यदृच्छोपलब्धेः) स्वेच्छा रूप यद्वा तद्वा जानने के कारण (उन्मत्तवत्) उन्मत्त के समान ये मिथ्याज्ञान भी होते हैं। अर्थात् मिथ्यादर्शन के उदय से सत और असत् पदार्थों का भेद नहीं समझते हुये, कुमति कुश्रुत और कुअवधिज्ञान वाले का यथार्थ जानना भी मिथ्याज्ञान ही समझना चाहिये।

विशेषार्थः—जिस प्रकार उन्मत्त (पागल) अथवा शराबी पुरुष भार्या (स्त्री) को माता, और माता को भार्या समझता है,यह उसका ज्ञान मिथ्याज्ञान है। परन्तु यदि वह किसी समय स्त्री को स्त्री और माता को माता भी कहदे, तो भी उसका यह कथन (कहना) या ज्ञान-मिथ्याज्ञान ही कहा जायगा। क्योंकि उसको स्त्री और माताके भेद का यथार्थ (ठीक) ज्ञान नहीं है। उसी प्रकार दर्शन मोह के उदय से सत् और असत् पदार्थ का यथार्थ (ठीक) ज्ञान न होनेके कारण कुमति,कुश्रुत,और कुअवधिज्ञान भी मिथ्याज्ञान समझना चाहिये यहां पर 'सत' का अर्थ प्रशस्त अथवा विद्यमान और असत् का अर्थ अप्रशस्त अथवा अविद्यमान समझना चाहिये।

वैसे यद्यपि नेत्रादिक इन्द्रियों से घटपटादि पदार्थों के रूपादि गुणों को सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि समानरूप से ग्रहण करता है परन्तु मिथ्यादृष्टि के कारण विपरीतता, स्वरूप विपरीतता और भेदाभेद विपरीतता, ये तीन प्रकारकी विपरीतता रहती है-अब इन तीनों का स्वरूप इस प्रकार है—घटपटादि पदार्थों के रूपादि गुणों को तो जैसे हैं वैसे ही जानता है, परन्तु उसके कारणोंको मिथ्या-

दृष्टि विपरीत कल्पित करता है।—जैसे ब्रह्माद्वैतवादी रूपादिकों का कारण एक अमूर्तिक नित्य ब्रह्म ही को मानते हैं और नैयायिक वैशेषिक, पृथ्वी से परमाणुओं में जाति भेद मानते हैं। उन में पृथ्वी में तो स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, चार गुण मानते हैं परन्तु वायु और जल में गन्ध को छोड़कर तीन ही गुण मानते हैं। अग्नि में स्पर्श और वर्ण दो ही गुण मानते हैं। वायु में एक स्पर्शगुण ही मानते हैं, शेष तीन गुण नहीं मानते हैं। इससे यह बात सिद्ध करते हैं, कि पृथिवी, जल, अग्नि और वायु ये चार अपनीर जाति के पृथक्र स्कन्धरूप कार्यों को उत्पन्न करते हैं, अर्थात् इन चारों के परमाणु पृथक २ ही हैं। बौद्ध मत वाले पृथिवी आदि को चार भूत मान कर और स्पर्शादि गुण इन चारों के भौतिक कर्म हैं, ऐसा मानते हैं। पश्चात् इन आठों के समुदाय को 'परमाणु' कहते हैं। इस प्रकार घटपटादि पदार्थों के रूपादि गुणों के कारणों में विपरीतता मानते हैं, यह 'कारण विपरीतता' है। कोई इन समस्त पदार्थोंके स्वरूप में भी भेद मानते हैं, कितने ही तो रूप रसादिको निरंश निर्विकल्प मानतेहैं, कोई कहते हैं कि रूपादि गुण कोई ज्ञान से भिन्न वस्तु नहीं है, ज्ञान ही रूपादिकों के आकार परिणत होता है। कोई वस्तुको सर्वथा अनित्य ही मानतेहैं। इसप्रकार मिथ्यात्व के उदय से वस्तुका स्वरूप बिपरीत मानते हैं, इसको 'स्वरूप विपरीतता' समझना चाहिये। कोई कारण से कार्य को सर्वथा अभिन्न ही मानते हैं। तथा द्रव्य से गुण को और गुणों से द्रव्य को सर्वथा भिन्न ही मानते हैं। अथवा कारण कार्य को सर्वथा अभिन्न ही मानते हैं। एवं समस्त द्रव्यों को ब्रह्म से अभिन्न ही मानते हैं। इत्यादि प्रकार से भेदाभेद में सर्वथा एकान्त पक्षपात से भेदअभेद दोनों को विपरीत ही मानते हैं, यह 'भेदाभेद विपरीतता' है।

इस प्रकार मिथ्यादृष्टि के जानने में तीनों प्रकार से विपरीतता होती है। इसी प्रकार मिथ्याज्ञानी के संशय और अनध्यवसाय भी होते हैं। शरीरादिक एवं रागादिक पर द्रव्य में और ज्ञान दर्शनादि रूप आत्मा के स्वभाव में स्व और पर का निर्णय नहीं, कि मैं ज्ञानादिक रूप हूं? ऐसा संशय ज्ञान मिथ्यादृष्टि के सदैव बना रहता है, और कोई कहता है, कि सर्वज्ञ तो किसी ने देखा नहीं कि जिसकी बात यथार्थ हो, और वस्तु का स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म है, फिर निर्णय किस तरह हो सकता है? अतएव जिस मार्ग पर हमारे बड़े पुरुष चलते आये हैं, उसी मार्ग पर हमें भी चलना उचित है। आत्मा के कल्याण करने वाले मार्ग का निर्णय न करके अन्धविश्वास पूर्वक देखा देखी, करने को 'अनध्यवसाय' कहते हैं। इस प्रकार मिथ्यादृष्टि के ज्ञान में संशय, विपरीत, और अनध्यवसाय तीनों दोष होते हैं, अतएव उसका ज्ञान मिथ्याज्ञान जानना चाहिये। जिस ज्ञान में ये तीन दोष होते हैं, वह 'मिथ्या-ज्ञान' ही होता है।

इस सब कथन का सार यह है कि यद्यपि मिथ्याज्ञानी घटपट आदि पदार्थों को सम्यग्ज्ञानी की तरह ही ग्रहण करता है, परन्तु उनकी विशेषताओं का ज्ञान मिथ्याज्ञानी को नहीं होता है। जैसे कोई व्यक्ति घट को घट ही जाने और माने, परन्तु उसको यह बोध नहीं कि घट मिट्टी का बनता है, या सूत का, अथवा पत्थर का बनता है, तो उसका 'घट ज्ञान' मिथ्याज्ञान ही कहा जायगा। इसी प्रकार मिथ्याज्ञानी भी जीवादिक पदार्थों को जानता है, परन्तु वह उन जीवादिक पदार्थों की विशेषताओं से सर्वथा अनभिज्ञ (अजान) रहता है। यही कारण है कि उसको मिथ्याज्ञानी और पागल के समान कहा गया है।

इस विषय में इतनी विशेषता और है, कि लौकिक पदार्थों को (जिन का सम्बन्ध मोक्ष मार्ग से नहीं है)चाहे वह विशेषता रहित भी जाने, किन्तु प्रयोजन भूत पदार्थों(जिस का सम्बन्ध मोक्ष मार्ग से है) को विशेषता सहित यथार्थ जाने, तो सम्यग्ज्ञानी ही कहा जायगा। और यदि प्रयोजन भूत पदार्थों को विशेषता रहित जाने, किन्तु लौकिक पदार्थों को विशेषता सहित जाने, तो वह मिथ्याज्ञानी ही समझा जायगा। मिथ्याज्ञानी और सम्यग्ज्ञानी होने के लिए प्रयोजन भूत पदार्थों के यथार्थ और अयथार्थ ज्ञान की अपेक्षा समझ लेना चाहिये। सम्यग्ज्ञानी चूने के पानी को दूध समझता हुवा भी यथार्थ ज्ञानी माना जायगा। किन्तु इसके विपरीत मिथ्याज्ञानी दूध को दूध जानता हुवा भी मिथ्याज्ञानी ही रहेगा, क्योंकि सम्यग्ज्ञानी को अपने प्रयोजन भूत पदार्थों का यथार्थ बोध (ज्ञान) है। और मिथ्याज्ञानी इस प्रकार के ज्ञान से सर्वथा शून्य है। चूने का पानी और दूध का मोक्ष मार्ग से कोई सम्वन्ध नहीं है, इसलिये सम्यग्ज्ञानीको यदि उसका ठीक ज्ञान नहींहै, तो उसके मोक्ष मार्ग में कोई रुकावट नहीं पड़ती है, किन्तु लौकिक ज्ञानकी दृष्टि से अवश्य उल्टा ज्ञान कहा जायगा। प्रयोजनभूत पदार्थों में जीवादिक सात तत्व समझना चाहिये, जिनमें आत्मा के स्वरूप के यथार्थ ज्ञान की मुख्यता है, अन्य की गौणता है। इस प्रकार मिथ्या और सम्यग्ज्ञान को आत्महित और अहित की अपेक्षा से पृथक् २ विषय भेद और उनका स्वरूप समझना चाहिये।

ज्ञान के प्रकरण में "प्रमाण नयै रधिगमः" सूत्र द्वारा प्रमाण और नय का उल्लेख किया था, उसमें से प्रमाण के प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों भेदों का वर्णन हो चुका, अतएव उसके बाद क्रमानुसार नयों का वर्णन करने के लिये सूत्र कहते हैं—

नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरुढैवम्भूताः नया॥३३॥

सूत्रार्थः—(नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्र शब्द समभिरूढैवंभूताः) नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवं भूत ये सात (नयाः) नय हैं। वस्तु में अनेक धर्म अर्थात् स्वभाव होते हैं, उनमें से किसी एक धर्म की मुख्यता लेकर अविरोध रूप साध्य पदार्थ को जाने, वह 'नय' है। नय के उपर्युक्त सात भेद हैं।

विशेषार्थः—वस्तु अनेक एवं अनन्त धर्मात्मक हैं, परन्तु उन अनन्त धर्मों में से (अस्तित्व, नास्तित्व, नित्यत्व, अनित्यत्व, एकत्व, अनेकत्व, आदि) किसी भी एक धर्म के द्वारा उस वस्तुके निश्चय करने वाले ज्ञान विशेष को 'नय' (विकलादेश) समझना चाहिये। इस नय के अनेक अपेक्षाओं से अनेक भेद हैं। शब्दों की अपेक्षा से भी नयों के अत्यधिक भेद हैं। अतएव जितने तरह के वचन होते हैं, उतने ही नय हो सकते हैं। नयके एक से लेकर असंख्यात तक भेद हो सकते हैं। इस लिये विस्तार से नयों का प्ररूपण नहीं किया जा सकता, परन्तु फिर भी यदि अत्यंत सूक्ष्म रूप से नयों के भेद बतलाये भी जायं, एवं उनका विस्तार से कथन किया भी जाय, तो अल्प ज्ञानी मनुष्य बड़ी उलझन में पड़ जावे, और उससे अल्प ज्ञानियों का लाभ भी नहीं हो सकता, प्रत्युत हानि हो जानेकी अधिक संभावना है। इसलिये हर मनुष्य सुलभता पूर्वक (आसानी के साथ) नयों का वास्तविक स्वरूप समझले, इस कारण सामान्य रूप से नयों के सात भेद बतलाकर उनका वर्णन किया गया है। नयों का स्वरूप स्थिर चित्त होकर समझना योग्य है।

न्याय वैशेषिक केवल नैगम नय के अद्वैतवादी और सांख्य केवल संग्रह नय के, चार्वाक लोग केवल व्यवहार नय के, बौद्ध लोग केवल ऋजुसूत्र नय के, और वैयाकरण केवल शब्द नयके मानने §वाले हैं। प्रमाण सम्पूर्ण नय रूप होता है। नय वाक्यों में 'स्यात्' पद लगा कर बोलने को 'प्रमाण' कहते हैं। जैनी नय और प्रमाण को मानने वाले हैं। क्योंकि नय वाक्यों में 'स्यात्' शब्द लगा कर ही जैन शास्त्रों में प्रत्येक कथन किया गया है। और उसको कथंचित् एवं अनेकान्त के नाम से प्रकट किया गया है। यह अनेकान्त वाद जैन धर्म का प्राण है। जैनधर्म की मूल भित्ति इसी सिद्धान्त पर ठहरी हुई है।

वस्तु के एक देश को ग्रहण करने वाले ज्ञान को 'नय' कहते हैं। इसलिये नय से सम्पूर्ण वस्तु का नहीं, किन्तु वस्तु के एक देश का ज्ञान होता है। जिस प्रकार समुद्रको एक बूंद को सम्पूर्ण समुद्र† नहीं कहा जा सकता। उसी प्रकार पदार्थों के एक अंश के ज्ञान करने को समस्त वस्तु का ज्ञान नहीं कह सकते। प्रमाण वाक्य और नय वाक्य ‡ से वस्तु में अनन्त धर्मों की सिद्धि होती

---

§ बौद्धानामृजु सूत्रतो मतमभूद्वेदान्तिनां संग्रहात्।
सांख्यानां ततएव नैगमनयात् यौगश्च वैशेषिकः॥
शब्दब्रह्मविदोऽपि शब्द नयतः सर्वैर्नयैर्गुंफितां।
जैनी दृष्टि रितीह सारतरता प्रत्यक्ष मुद्वीक्ष्यते ॥१॥
(अध्यात्मसारे)

† नायं वस्तु न चावस्तु वस्त्वंशः कथ्यते बुधैः।
नासमुद्रः समुद्रो वा समुद्रांशो यथैव हि॥ "श्लोकवार्तिक"

‡ नय वाक्य, और प्रमाण वाक्य, एवं नय सप्तभंगी, तथा प्रमाण सप्तभंगी का स्वरूप पाँचवें अध्याय में विस्तार पूर्वक लिखा गया है।

हैं । प्रमाण वाक्य को 'सकलादेश' और नय वाक्य को 'विकलादेश' कहते हैं । पदार्थ के धर्मों का काल, अर्थ, सम्बन्ध, आत्मरूप, उपकार, संसर्ग, और शब्द की अपेक्षा अभेद रूप कथन करना 'सकलादेश' तथा काल, आत्म रूप, आदि की अपेक्षा भेद विवक्षा से पदार्थ के धर्मों का प्रतिपादन करना 'विकलादेश' है । इसी के प्रमाण सप्तभंगी और नय सप्त भंगी दो भेद हैं ।

मूल में निश्चय नय और व्यवहार नय इस प्रकार दो भेद हैं, उपर्युक्त इन सातों नयों को द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दो श्रेणियों में भी विभाजित कर सकते हैं । इस विषय में जैनशास्त्रों में दो परम्परायें दृष्टिगोचर होती हैं । पहली परम्परा के अनुसार द्रव्यार्थिकके नैगम आदि चार, और पर्यायार्थिक के शब्द आदिक तीन, भेद हैं । और दूसरी परम्परा के अनुसार द्रव्यार्थिक के नैगम आदि तीन, और पर्यायार्थिक नय के ऋजुसूत्र आदि चार, भेद हैं ।

जो नय पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को विषय करता है, उसको 'निश्चय नय' कहते हैं । अर्थात् जो पदार्थ जैसा है, उसको वैसा ही ग्रहण करना, इसका नाम 'निश्चय नय' है । पंचाध्यायीकार, जो नय व्यवहार नय का निषेध करता है, उसको 'निश्चय नय' कहते हैं । अर्थात् जो कुछ व्यवहार कहता है, उसका निषेध करना ही निश्चय नय का लक्षण माना है । जैसे—मिट्टी के घड़े को मिट्टी का ही घड़ा कहना, अथवा समझना । जो नय पदार्थ के अयथार्थ स्वरूप को विषय करता है, उसको,'व्यवहार नय' कहते हैं । अर्थात् जो पदार्थ जैसा है, उसको वैसा नहीं ग्रहण करना, किन्तु दूसरे पदार्थ के सम्बन्ध से व्यवहार की सिद्धि के लिए उस पदार्थ को अन्य रूप ग्रहण करना, इसको 'व्यवहार नय' कहते हैं

पंचाध्यायीकार जितना उदाहरण पूर्वक और भेद सहित कथन है, उस सबको 'व्यवहार नय' कहते हैं। जैसे घी के सम्बन्ध से मिट्टी के घड़ेको घी का घड़ा कहना। इन दोनों नयों में से निश्चय नय द्रव्य को विषय करता है, और व्यवहार नय पर्याय को विषय करता है।

जो नय विशेष स्वरूपके साथ अविनाभाव सम्बन्ध रखनेवाले सामान्य स्वरूपको नाना युक्तियों के बल से ग्रहण करता है, उसको 'द्रव्यार्थिक नय' कहते हैं। और जो नय सामान्य स्वरूप के साथ अविनाभाव सम्बन्ध रखने वाले विशेष स्वरूप को नाना युक्तियों के बल से ग्रहण करता है उसको 'पर्यायार्थिक नय' कहते हैं। सारांशतः 'द्रव्य' नाम 'सामान्य' का है 'पर्याय' नाम 'विशेष' का है, वस्तु में युगपत् रहने वाले सामान्य और विशेष इन दोनों धर्मों में से जो नय विशेष धर्म को (पर्याय को) गौण करके सामान्य धर्म (द्रव्य) को मुख्यतासे ग्रहण करता है उसको 'द्रव्यार्थिक नय' कहते हैं। और जो नय सामान्य धर्म (द्रव्य) को गौण करके विशेष धर्म (पर्याय) को मुख्यता से विषय करता है, उसको 'पर्यार्थिक नय' कहते हैं। उपर्युक्त सात नयों में नैगम, संग्रह, व्यवहार, ये तीन नय तो 'द्रव्यार्थिक नय' कहलाते हैं, और ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़, एवं भूत, ये चार नय, पर्यायार्थिक नय, माने गये हैं। नीचे इन सातों नयों का स्पष्टीकरण करते हैं—

१—जितने द्रव्य हैं, वे अपनी भूत्, भविष्यत्, वर्तमान काल, की समस्त पर्यायों से अन्वय (जोड़रूप या लगातार) रूप हैं अपनी किसी भी पर्याय से कोई द्रव्य भिन्न नहीं है, सो अतीत (भूत) पर्यायों को, भविष्यत् पर्यायों को, तथा वर्तमान पर्यायों को वर्तमान काल में संकल्प करे, अर्थात् कहे 'ऐसे ज्ञान एवं वचन

को' 'नैगमनय' ‡ कहते हैं। उसके तीन भेद हैं–भूत नैगम नय, भविष्यत् नैगम नय, और वर्तमान नैगम नय। जहां पर अतीत काल में वर्तमान का आरोपण किया जाता है, उसको 'भूत नैगम-नय†' कहते हैं। जैसे-आज दीपावली के दिन श्रीमहावीरभगवान् मोक्ष को गये, उस हजारों वर्ष पहले के दिन का संकल्प आज के दिन में किया जाता है, जहां पर भविष्यत काल में होने वाले पदार्थ में हो चुकने के समान संकल्प किया जाता है, उसको '§भविष्यत् नैगम नय' कहते हैं। जैसे अरहन्त को सिद्ध मानना जहां पर कोई कार्य प्रारम्भ कर दिया हो, चाहे वह थोड़ा ही बना हो, अथवा थोड़ा भी न बना हो, तथापि उसको बने हुये के समान कहना, यह *'वर्तमान नैगम नय' है। जैसे कोई पुरुष रोटी बनाने का सामान इकट्ठा कर रहा है, और उस से किसी ने पूछा, क्या करते हो, वह उत्तर देता है, कि 'मैं रोटी बना रहा हूं'। ऐसा कहना वर्तमान नैगम नय की अपेक्षा से ठीक है। जिस समय नैगम-नय सामान्य को विषय करता है, उस समय वह 'संग्रह नय' में गर्भित होता है, और जिस समय विशेष को विषय करता है, उस समय 'व्यवहार' में गर्भित होता है, अतएव नैगम नय का संग्रह और व्यवहार नय में अन्तर्भाव करके कोई २ आचार्य

---

‡ अनभि निवृत्तार्थ सकल्प मात्र ग्राही नैगमः। स. सि.

† अतीते वर्तमान आरोपणं यत्र स भूतनैगमो, यथा अद्य दीपोत्सवेदिने श्रीवर्द्धमान स्वामी मोक्षं गतः। आ. प.

§ भाविनिभूतवत्कथनं यत्र स भावि नैगमो यथा अर्हन् सिद्ध एव। आ.प.

* कर्तुमारब्धमीषन्निष्पन्नमनिष्पन्नं वा वस्तु निष्पन्नवत्। कथ्यते, यत्र स वर्तमान नैगमो, यथा ओदनः पच्यते॥ आ. प.।

छह* नयों को ही मानते हैं।

२—जो एक वस्तु की, समस्त जाति की, और उसकी सब पर्यायों को संग्रह रूप करके एक स्वरूप कहे, उसको 'संग्रह नय'‡ कहते हैं। जैसे– 'घट' कहने से सब घटों को समझना, अथवा 'द्रव्य' कहने से जीव अजीवादिक, तथा उनके भेद प्रभेदादिक सबका समझना। इस नयके सामान्य संग्रह, और विशेष संग्रह इस प्रकार दो भेद हैं। जो नय सत् सामान्य की अपेक्षा से समस्त द्रव्यों को एक रूप ग्रहण करता है, उसको 'सामान्य संग्रह' कहते हैं, जैसे– सत् सामान्य की अपेक्षा से सम्पूर्ण द्रव्य परस्परमें अविरोधी हैं। यहां पर द्रव्य के कहने से सामान्य तथा जीव और अजीव सब का ग्रहण हो जाता है। अतएव यह 'सामान्य संग्रह'† कहलाता है। जो नयएक जाति विशेष की अपेक्षा से अनेक पदार्थों को एक रूप ग्रहण करता है, उसको 'विशेष संग्रह नय' कहते हैं। जैसे— चैतन्यपने की अपेक्षा से सम्पूर्ण जीव परस्पर में एक हैं। यहांपर 'जीव' के कहने से सामान्य तथा सब जीवों का तो ग्रहण हो जाता है, परन्तु अजीव का ग्रहण नहीं होता। इसलिये यह 'विशेष संग्रह नय'§ कहलाता है। सारांशतः संसार में अनन्तानन्त वस्तुयें है, सबको पृथक २ जानना, और वर्णन करना बहुत कठिन है। इस कारण अनेक वस्तुओं की एक जाति नियत करली जाती है।

---

* सिद्ध सेनीयाः पुनः षडेव नयानाभ्युपगत वन्तः।
नैगमस्य संग्रह व्यवहारयोरन्तर्भाव विवक्षणात्॥ 'विशेषावश्यकभाष्य'

‡ स्वजात्य विरोधे नैकध्यमुपनीय पर्यायानाक्रान्तभेदानविशेषेण समस्त ग्रहणात्संग्रहः। स. सि.

† सामान्य संग्रहो, यथा सर्वाणि द्रव्याणि परस्परमविरोधीनि॥ आ.प.॥

§ विशेष संग्रहो, यथा सर्वे जीवाः परस्परमविरोधीनि॥ आ, प.॥

जैसे—अनेक प्रकार के मनुष्यों की एक मनुष्य जाति । अनेक प्रकार के वृक्षों की 'एक वृक्ष जाति' इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिये । समुच्चय (संक्षिप्त) रूप कथन करने के लिये संग्रह नय को सब से अधिक काम में लाया जाता है।

३—जो संग्रह नय से ग्रहण किये पदार्थों को विधि पूर्वक भेद प्रभेद करे, उसको 'व्यवहार नय' † कहते हैं। जैसे—संग्रह नय से 'द्रव्य' कहने से समस्त भेद प्रभेद रूप द्रव्योंका सामान्यता से ग्रहण होता है। परन्तु द्रव्य दो प्रकार के हैं, जीव और अजीव। जीव, देव, नारकी, मनुष्य और तिर्यंच के भेद से चार प्रकार के होतेहैं, अजीव पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल पांच भेद रूप हैं। इस प्रकार व्यवहार साधक भेद प्रभेद करना व्यवहारनय है। सारांशतः, संग्रह नय से ग्रहण हुये पदार्थों को लोक व्यवहार के अनुसार विधि पूर्वक भेद प्रभेद जहां तक करे, कि फिर किसी प्रकार का भेद न हो सके, यह 'व्यवहार नय' का स्वरूप है। इस नय के भी सामान्य, विशेष, के भेद से दो भेद हैं। जो सामान्य संग्रह नय के विषय भूत पदार्थों में भेद करता है, उसको 'सामान्य व्यवहार नय'‡कहते हैं। जैसे द्रव्योंके दो भेद जीव और अजीव। जो नय विशेष संग्रह नय के विषयभूत पदार्थ को भेद रूप ग्रहण करता है, उसको 'विशेष व्यवहार नय'§ कहते हैं। जैसे जीवों के दो भेद, एक संसारी जीव, दूसरा मुक्त जीव। सारांशतः जब तक भेद का अन्त नहीं होता है, तब तक बराबर संग्रह नय के विषय में व्यवहार नय की प्रवृति होती रहती है । इस प्रकार सामान्य

---

† संग्रह नया क्षिप्ताना मर्थानां विधि पूर्वक मवहरणं व्यवहारः ॥ स.सि. ॥

‡ सामान्य संग्रह भेदको व्यवहारो, यथा द्रव्याणि जीवाजीवाः ॥ आ.प. ॥

§ विशेषसंग्रहनयभेदको व्यवहारो, यथा जीवाः संसारिणो मुक्ताश्च ।'आ.प.'

और विशेष व्यवहार नय का प्रपंच सामान्य संग्रह से आगे और ऋजुसूत्र नय के पहले तक समझना चाहिये। क्योंकि सभी पदार्थ कथंचित् सामान्य विशेषात्मक होते हैं।

४—अतीत, अनागत दोनों पर्यायों को छोड़ कर वर्तमान पर्याय मात्र को ग्रहण करे, वह 'ऋजुसूत्र नय' है। अर्थात् द्रव्य की पर्याय समय २ पलटती रहती है। सो एक समयवर्ती पर्याय को 'अर्थ पर्याय' कहते हैं। अर्थ पर्याय ही ऋजुसूत्रनय का विषय है। ऋजुसूत्र नय वर्तमान एक समय मात्र की पर्याय को ग्रहण करता अथवा कहता है। अतीत अनागत समय की पर्याय को ग्रहण नहीं करता। जैसे कोई पुरुष कहीं से आकर बैठा है, किसीने उस से पूछा कहां से आरहे हो, उसने कहा कहीं से नहीं आ रहा हूं। क्यों कि उस समय गमन क्रिया का अभाव है। अतः शुद्ध वर्तमान पर्याय की अपेक्षा 'कहीं से नहीं आरहा हूं' यह ऋजुसूत्र नय का विषय है, और ठीक है। ऋजुसूत्र नय स्थूल और सूक्ष्म के भेद से दो प्रकार का होता है। जो नय द्रव्य की एक समय वर्ती सूक्ष्म अर्थ पर्याय को विषय करता है, उस को 'सूक्ष्म ऋजु सूत्र नय §कहते हैं। और जो नय द्रव्य को अनेक समयवर्ती स्थूल पर्याय को विषय करता है। उसको 'स्थूल ऋजु सूत्र नय‡' कहते हैं। जैसे मनुष्य तिर्यंच आदि पर्यायें अपनी २ आयुके प्रमाण के काल तक अर्थात् अपनी २ आयु पर्यन्त रहती है, यह ऋजु सूत्र नय बीती हुई, और आगे आने वाली पर्यायोंको छोड़कर वर्तमान पर्याय मात्र का कथन करता, वा ग्रहण करता है।

---

§ सूक्ष्मर्जुसूत्रो यथा एक समय स्थायी पर्यायः ॥ आ. प. ॥

‡ स्थूलर्जुसूत्रो यथा मनुष्यादि पर्यायास्तदायुःप्रमाण कालं तिष्ठन्ति ॥आ.प.

५—जो व्याकरण सम्बन्धी लिंग (स्त्रीलिंग, पुल्लिंग, नपुंसकलिंग) वचन (एकवचन, द्विवचन, बहुवचन) पुरुष (प्रथम पुरुष, मध्यम पुरुष, उत्तम पुरुष) काल (भूत, भविष्यत्, वर्तमान) साधन उपसर्ग, उपग्रह, (परस्मैपद और आत्मनेपद) आदिक के दोषों को दूर करके जाने अथवा कहे, उसको 'शब्दनय*' कहते हैं। जैसे—दारा, भार्या, और कलत्र, ये तीनों भिन्न २ लिंग के शब्द यद्यपि एक 'स्त्री' रूप पदार्थ के ही वाचक और कहने वाले हैं। परन्तु यह नय लिंग का भेद होने से एक स्त्री पदार्थ को तीन भेद रूप ग्रहण करता है। इसी प्रकार जलं, आपः, ये दोनों भिन्न भिन्न लिंग के शब्द यद्यपि एक 'पानी' रूप पदार्थ के ही वाचक (जनाने वाले) हैं। परन्तु यह नय लिंग का भेद होने से एक पानी रूप अर्थ को दो भेद रूप ग्रहण करता है। इसी प्रकार कारक आदि के उदाहरण भी समझ लेना चाहिये। सारांश यह है कि शब्दनय लिंग,वचन आदि के दोषों को ठीक नहीं मानता। क्योंकि अन्य पदार्थ का अन्य पदार्थ के साथ सम्बन्ध नहीं होता है। यदि अन्य पदार्थका अन्य पदार्थ के साथ भी सम्बन्ध होने लगे, तो 'घट'पट, होजायगा और पट (कपड़ा) मकान हो जायगा। अतः समान लिंग समान वचन आदि वाले पर्यायवाची शब्दों के परस्पर में सम्बन्ध को ही शब्द नय ठीक मानता है। इस प्रकार शब्दनय (अथवा इस नय का अनुयायी और मानने वाला) व्यवहार नय को अनुचित समझता हुआ व्याकरण शास्त्र के अनुसार शब्द शुद्धि पर विशेष ध्यान रखता है। अर्थात् व्याकरण शास्त्र सम्बन्धी दोषों को व्यव-

* शब्द नयो यथा, दारा, भार्या कलत्रं, जलं आपः। आ. प.

कालादि भेदतोऽर्थस्य भेदः य प्रतिपादयेत्।
सोऽत्र शब्दनयः शब्द प्रधानत्वादुदाहृतः॥ श्लो. वा.

हार नय तो ठीक समझता है, और सदोष शब्दों को व्यवहार नय की अपेक्षा से प्रयोग किया जा सकता है। परन्तु शब्द नय की प्रधानता से वे प्रयोग ठीक नहीं हैं, और शब्द नय उन प्रयोगों को अनुचित समझता है।

६—अनेक अर्थों को छोड़ कर प्रधानता से जो एक ही अर्थ में प्रसिद्ध हो, उसी अर्थ को विषय करने वाला हो अर्थात उसी अर्थ को जाने अथवा कहे उसको '**समभिरूढ़ नय**' कहते हैं। जैसे 'गो' शब्द के वाणी, पृथ्वी, गमन, आदि अनेक अर्थ होते हैं। तथापि मुख्यता से 'गो' नाम 'गाय' नामा पशु का ही ग्रहण किया जाता है। यहां पर यह अवश्य समझ लेना चाहिये कि सोती, उठती बैठती चलती-फिरती, किसी भी अवस्था में वह क्यों न हो, सब लोग उसको गाय ही कहते हैं, यह समभिरूढ नय की अपेक्षा से ठीक है। यद्यपि 'गच्छतीति गौ' इस व्युत्पत्ति की अपेक्षा से गमन करे वह गौ है, ऐसा 'गौ' शब्द का यौगिक (धात्वर्थ निष्पन्न) अर्थ होता है। तथापि यह नय गमन क्रिया से भिन्न उठने बैठने सोने आदि अन्य क्रियाओं के समय में भी 'गौ' को 'गौ' शब्द से कहता है। क्योंकि 'गौ' शब्द का प्रसिद्ध (रूढ़ि) अर्थ सामान्यतया 'गौ' ही होता है।

अथवा जो नय लिंग वचन आदि का भेद न होने पर भी पर्याय वाची शब्दों के भेद से पदार्थ को भेद रूप ग्रहण करता है, उसको '**समभिरूढ़ नय**' कहते हैं। जैसे—इन्द्र, शक्र, पुरन्दर, ये तीनों शब्द एक ही लिंग के पर्याय वाची शब्द एक देवपति रूप अर्थ के ही वाचक हैं। परन्तु यह नय पर्याय वाची शब्दों के भेद से एक देवपति को तीन भेद रूप ग्रहण करता है। अर्थात् इन्दन क्रिया की अपेक्षा से इन्द्ररूप, शकन क्रिया की अपेक्षा से शक्ररूप, और

'पूर्दारण' क्रिया की अपेक्षासे 'पुरन्दर' रूप ग्रहण करता है। शब्द नय और समभिरुढ़ नय में इतना अन्तर है, कि शब्द नय तो लिंग वचन, कारक, आदि के भेद से होने वाले शब्द भेद से ही पदार्थ को भेदरूप ग्रहण करता है। अर्थात् शब्द के होने वाले लिंगादिक के भेद में ही अर्थ भेद को करता है। किन्तु समभिरुढ़ नय पर्याय वाची शब्दों के भेद में भी अर्थ भेद को करता है।

सारांशत: जैसे जो न्याय करे, वह न्यायाधीश कहलाता है। परन्तु किसी न्यायाधीश को जब वह सोता हो, अथवा खाता हो, अर्थात् न्याय करने का काम न करता हो, उस समय भी न्यायाधीश ही कहना, यह समभिरूढ़ नय के अनुसार ठीक है।

७—जिस समय में जो क्रिया करता है, उसको उस काल में उसही नाम से जाने, या कहे, उसको 'एवंभूत नय' कहते हैं। जैसे देवों के स्वामी को परमैश्वर्य सहित हो, उसी समय, अथवा, अवस्था में इंद्र कहना, पूजन, अभिषेक आदि करते हुये इन्द्र नहीं कहना, तथा जिस काल में वह शक्ति रूप क्रियाको करे, उसी समय शक्र कहना, अन्य समय में शक्र नहीं कहना, एवं जैसे पूजा करते समय पुजारी कहना, और पढ़ते समय उसीको विद्यार्थी कहना। समभिरूढ़ नय और एवं भूत नयों में परस्पर यह भेद है, कि व्युत्पत्ति सिद्ध अथ क्या है? इस बातका विचार न करके प्रसिद्ध अर्थ का ग्रहण करना, 'समभिरूढ़ नय' का विषय है। 'गौ' शब्द का व्युत्पत्ति सिद्ध अर्थ 'जो गमन करे' होता है। परन्तु इस अर्थ का विचार न करके उसका प्रसिद्ध अर्थ 'गाय' को सोती, बैठती, उठती आदि सभी अवस्थाओं में 'गाय' ही कहना, यह समभिरूढ़ नय का विषय है। परन्तु जहां पर केवल व्युत्पत्ति सिद्ध अर्थ ही विषय हो, और उसी को ग्रहण करना, यह एवंभूत

है। और हर समय 'गाय' कहना 'समभिरूढ़ नय' है। 'एवंभूत' और 'ऋजुसूत्र नय' में यह अन्तर है, कि जहां पर शब्द मात्र की दृष्टि से जो क्रिया होती है, वह तो एवंभूत है, और उसी क्रिया को अवस्था विशेष की दृष्टि से देखा जाय तो ऋजुसूत्र नय का विषय समझना चाहिये। जैसे पूजन करते समय पूजन करना 'पुजारी' शब्द के अनुसार क्रिया है, इसलिये एवंभूत नय का विषय है। और यही क्रिया मनुष्य की एक 'अवस्था विशेष' है। इस लिये ऋजुसूत्र नय का विषय है।

इस प्रकार ये नैगमादि सातों ही नय यदि परस्पर में अपेक्षा सहित हों, तो 'सम्यक् नय' कहलाते हैं। और यदि परस्पर में अपेक्षा रहित हों, तो 'मिथ्या नय' कहलाते हैं। नैगमादि चार नय अर्थ (पदार्थ) को विषय करते हैं, इस लिये 'अर्थनय' कहलाते हैं तथा शब्द आदिक तीन नय शब्द की मुख्यता से वस्तु को विषय करते हैं, इस लिये 'शब्द नय' कहलाते हैं। इसके अतिरिक्त इन सातों नयों में से पूर्व पूर्व के नय व्यापक होने से कारणरूप, तथा प्रतिकूल महा ‡ विषय वाले हैं।

जैसे नैगम नय संग्रह नय का कारण है, इसलिये नैगम नय कारण रूप है, और संग्रह नय कार्य रूप है। संग्रह नयव्यवहार नय का कारण है, इसलिये संग्रह नय कारण रूप तथा व्यवहार नय कार्य रूप है। व्यवहार नय ऋजुसूत्र नय का कारण है। इस लिये व्यवहार नयकारण रूप और (ऋजु) सूत्र नय कार्यरूप है।

---

‡ उक्ता नैगमादयो नयाः उत्तरोत्तर सूक्ष्म विषयत्वादेषां क्रमः पूर्वं पूर्वं हेतुकत्वाच्च। एवमेते नयाः पूर्वं पूर्वं विरुद्धमहा विषया उत्तरोत्तरानुकूलाल्प विषयाः। द्रव्यस्यानन्त शक्तेः प्रतिशक्ति भिद्यमाना बहुविकल्पा जायन्ते।

स० सि०

ऋजु सूत्र नय शब्द नय का कारण है। इसलिये ऋजु सूत्र नय कारण रूप तथा शब्द नय काय रूप है। शब्द नय समभिरुढ़ नय का कारण है, इसलिये शब्द नय कारण रूप और समभिरूढ़ नय कार्य रूप है। समभिरूढ़ नय एवं भूतनय का कारण है। इसलिये समभिरूढ़नय कारण रूप और एवम्भूत नय कार्य रूप है। सारांशतः सातों नयों में से नैगम नय केवल कारण रूप है, और एवं भूत नय केवल कार्य रूप है। तथा शेष के पांच नय पूर्व २ के नयों की अपेक्षा से कार्य रूप और आगे२ के नयों की अपेक्षा से कारण रूप है। और उत्तर २ के नयव्याप्य होने से कार्य रूप तथा अनुकूल अल्प विषय वाले हैं। पूर्व २ के नयों के विषय को आगे आगे के नय विषय नहीं करते हैं। अर्थात् पूर्व २ के नयों का जो और जितना विषय है, वही तथा उतना ही विषय अगे २ के नयों की अपेक्षा से प्रतिकूल और महा विषय वाले हैं। तथा आगे आगे के नयो के विषय को पूर्व २ के नय विषय करते हैं। अर्थात् आगे २ के नयों का जो २ विषय है, वह सब पूर्व २ के नयों के विषय में गर्भित होजाता है, इसलिये आगे २ के नय पूर्व पूर्व के नयों की अपेक्षा से अनुकूल और अल्प विषय वाले हैं।

नगम नय से संग्रह नय का विषय अल्प है। क्योंकि संग्रह नय तो केवल भावात्मक पदार्थ को ही विषय करता है, परन्तु नैगम नय भावात्मक और अभावात्मक दोनों प्रकार के पदार्थों को विषय करता है, इसलिये नैगम नय की अपेक्षा से संग्रह नय का विषय अल्प है। इसी प्रकार संग्रह नय से व्यवहार नय का विषय अल्प है। क्योंकि संग्रह नय तो सामान्य तथा सत् को ही विषय करता है, परन्तु व्यवहार नय संग्रह नय के विषय भूत उस सत् के भेदों को (द्रव्यकी पर्यायों को) विषय करता है। व्यव-

हार नयसे ऋजुसूत्र नय का विषय अल्प है, क्योंकि व्यवहार नय तो त्रिकालसम्बन्धी पर्यायों को विषय करता है। परन्तु ऋजु सूत्र नय केवल वर्तमान काल सम्बन्धी पर्याय को ही विषय करता है। ऋजुसूत्र नय से शब्द नय का विषय अल्प है। क्योंकि ऋजु सूत्र नय तो वर्तमान काल सम्बन्धी पर्यायों को ही ग्रहण करता है, परन्तु शब्दनय वर्तमान काल सम्बन्धी पर्यायोंको भी लिंग, वचन, और कालादिक के भेद से विषय करता है। शब्द नय से समभिरूढ़ नय का विषय अल्प है। क्योंकि शब्द नय में तो व्याकरण शास्त्र की दृष्टि से लिंग, वचन आदि के भेद से ही अर्थ भेद माना जाता हैपर्याय वाची शब्दों के भेद से नहीं। परन्तु समभिरूढ़ नय में पर्याय वाची शब्दों के भेद से भी अर्थ भेद माना जाता है। समभिरूढ़ नय की अपेक्षा से एवं भूत नय का विषय अल्प है। क्योंकि समभिरूढ़नय तो सब अवस्थाओं में किसी पदार्थ को उस पदार्थ के वाचक शब्द से कहता है, परन्तु एवंभूत नय उस शब्द के अर्थ के अनुसार क्रिया परिणत पदार्थ को ही उस शब्द से कहता है। अर्थात् समभिरूढ़ नय सोती बैठती उठती आदि सब अवस्थाओं में गौ को गौ शब्द से पुकारता है। किन्तु एवंभूत नय गमन करने रूप अवस्था में ही गमन करते समय ही गौ को 'गौ' शब्द से कहता है। अन्य समय में नहीं।

इस विषय पर एक दृष्टान्त है, कि किसी नगर में एक पक्षी बोलता था, उसका बोलना सुन कर एक मनुष्य ने कहा इस नगर में एक पक्षी बोलता है। दूसरे व्यक्ति ने कहा इस नगर में एक वृक्ष है, उस पर पक्षी बोलता है। तीसरे पुरुष ने कहा वृक्ष की बड़ी डाली पर पक्षी बोलता है। चौथे आदमी ने कहा छोटी डाली

पर बैठ कर पक्षी बोलता है। पाँचवें ने कहा डाली के एक कौने पर बैठ कर पक्षी बोलता है। छट्ठे ने कहा पक्षी अपने शरीर में बोलता है। और सातवें ने कहा वह अपने कंठ में बोलता है। इत्यादि। यहाँ पर इस दृष्टान्त में जिस प्रकार पक्षी के बोलने का स्थान पहले बहुत बड़ा बतला कर, पीछे क्रम २ से अल्प बतलाया गया है, उसी प्रकार नयों में पहले नैगम नय का विषय बहुत व्यापक बतलाया गया है, फिर क्रम २ से अल्प बतलाया गया है इस लिये नैगम आदि नयों में उत्तरोत्तर सूक्ष्म विषयता समझनी चाहिये।

इस प्रकार यहांतक नयोंके सात भेदों का कथन किया। व्यवहार नय को कहीं २ पर 'उपचार नय' भी कहा गया है। इसके तीन भेद हैं—सद्भूत, असद्भूत, और उपचरित। इन तीनों प्रकार के व्यवहार नयों का स्वरूप इस प्रकार है—

१—वस्तु और उसका गुण पृथक २ दो पदार्थ नहीं हैं। इसी प्रकार वस्तु और उसकी पर्यायें भिन्न २ दो पदार्थ नहीं हैं। परन्तु गुण और गुणी में भेद करना, अथवा पर्याय और पर्यायी में भेद करना, अर्थात् इनको भिन्न २ कथन करना, एवं अखंड द्रव्य को बहु प्रदेश रूप कहना, यह 'सद्भूत व्यवहार नय' है।

२—किसी वस्तु के धर्म को किसी दूसरी वस्तु में समारोप करना। यह समारोप तीन तीन प्रकार होता है। १-अपनीही जाति वाले में समारोप करना, जैसे चन्द्रमा के प्रतिविम्ब को, जो जल आदि में पड़ता है, चन्द्रमा कहना। २–विजाति में विजाति का समारोप करना, जैसे मतिज्ञान को मूर्तिक हना। ३–सजाति विजाति में सजाति और विजाति दोनों का समारोप करना, जैसे ज्ञेय को ज्ञान का विषय होने से ज्ञान कहना। यह 'असद्भूत

व्यवहार नय' है।

३—इस नय को 'उपचरिता सद्भूत व्यवहार नय' भी कहते हैं, प्रयोजन और निमित्त के वश से इस नय की प्रवृत्ति होती है। इसके भी तीन भेद हैं–१ अपनी ही जाति वाली वस्तु में उपचार करना, जैसे मित्र पुत्र आदि जीवों को कहना, कि ये मेरे हैं। २–विजाति वस्तु में उपचार करना, जैसे महल, मकान, रुपया, पैसा, आदि को अपना बताना। ३–सजाति और विजाति दोनों प्रकार की वस्तुओं में उपचार करना। जैसे यह कहना, कि गाड़ी मेरी है, जिस में गाड़ी अजीव है, और बैल घोड़ा आदि जो उस में जुते हुये हैं, वे जीव हैं, इन दोनों को अपना बताना। किसी २ ग्रन्थ में निम्न प्रकार भी भेद किये गये हैं—

निश्चयनय—जो वस्तु को अभेद रूप ग्रहण करे, इसके दो भेद हैं–शुद्धनिश्चय नय, और अशुद्ध निश्चय नय। १—वस्तु को निरुपाधि रूप उसके शुद्ध गुण के अनुसार कथन करना, जैसे जीव को सर्वज्ञ और परमानन्द स्वरूप वर्णन करना, यह शुद्ध-निश्चय नय है २। और उपाधि सहित कथन करना, जैसे–जीव को इन्द्रिय जनित ज्ञान वाला, अथवा सुखी दुखी वर्णन करना, यह 'अशुद्धनिश्चय नय' कहलाता है।

'व्यवहार नय' जो वस्तुको भेद रूप ग्रहण करे, इसके भी दो भेद हैं, सद्भूत और असद्भूत। गुण और गुणी को भिन्न २ ग्रहण करना, 'सद्भूत व्यवहार नय' है। इसके भी फिर दो भेद हैं—उपचरित और अनुपचरित। १-उपाधिक गुण गुणीको'भेदरूप ग्रहण करना, जैसे यह कहना, कि जीव में मति ज्ञानादि गुण हैं, यह 'उपचरित सद्भूत नय' है। २-और निरुपाधिक गुण गुणी को भेद रूप कथन करना, जैसे यह कहना, कि जीव में केवल ज्ञान

गुण हैं, यह 'अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नय' है । भिन्न २ पदार्थों को अभेद रूप ग्रहण करना, 'असद्भूत व्यवहार नय' है । इसके भी दो भेद हैं, उपचरित और अनुपचरित । जो अपने से बिल्कुल भिन्न पर वस्तु को अभेद रूप ग्रहण करे, जैसे—यह रुपया पैसा मेरा है, यह 'उपचरित असद्भूत व्यवहार नय' है । जो ऐसी पर वस्तु को अभेद रूप ग्रहण करे, जो कि मिलकर एक हो रही हों । जैसे–यह शरीर मेरा है, यह 'अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय' है । वास्तव में नय के बहुत भेद हैं । जितनी वस्तु हैं, वा जितने शब्द हैं, उतनी ही नय हैं । नय का विशेष वर्णन अन्य बड़े ग्रन्थों से जानना चाहिये । यह नय का प्रकरण बड़े महत्व का है, एवं उपयोगी और कार्यकारी है । अतः उचित है कि इसको ध्यान पूर्वक वार २ मनन सहित समझना चाहिये ।

ज्ञान के प्रकरण में ज्ञान के आठ भेद बता चुके हैं, अर्थात् मति ज्ञान, श्रुत ज्ञान, अवधि ज्ञान, मनः पर्ययज्ञान, केवलज्ञान, ये पांच सम्यग्ज्ञान हुये, और तीन मिथ्या ज्ञान, कुमति ज्ञान, कुश्रुत ज्ञान, कुअवधि ज्ञान, इस प्रकार कुल मिलाकर ज्ञान आठ प्रकार का होता है । अब यहां पर हमें यह भी विचार करना चाहिये कि वस्तु का ज्ञान, प्रमाण (ज्ञान) और नय से होता है । इसलिये कौन कौनसा नय किस२ ज्ञान का आश्रय लिया करते हैं इस विषय में अन्य ग्रन्थों से यह बात मालूम होती है, कि नैगम, संग्रह, व्यवहार, ये तीन नय तो आठों प्रकार के ज्ञानों का आश्रय लिया करते हैं, और ऋजु सूत्र नय आठ में से सिर्फ मति ज्ञान, और कुमति ज्ञान के अतिरिक्त शेष छह ज्ञानों का आश्रय लेता है इस का कारण यह है, कि ये दोनों ही ज्ञान श्रुतज्ञान और कुश्रुत-ज्ञान का उपकार करने वाले हैं । अतएव उनका आश्रय नहीं लेता ।

चक्षुरादिक इन्द्रियों के द्वारा जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह यदि अवग्रह मात्र ही हो, तो उससे वस्तु का निश्चय नहीं हो सकता। क्योंकि जब श्रुतज्ञान के द्वारा उस पदार्थका ज्ञान किया जाता है, तभी उसका यथावत् निश्चय होता है। अतएव मति ज्ञान से फिर क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ ? इसी लिये ऋजु सूत्र नय मति ज्ञान, और कुमति ज्ञान का आश्रय नहीं लेता। शब्द नय श्रुत ज्ञान और केवलज्ञान इन दो ज्ञानों का ही आश्रय लेता है। इसका कारण यह है, कि मति ज्ञान, अवधि ज्ञान, और मनः पर्यय ज्ञान श्रुत ज्ञान का ही उपकार करते हैं। क्योंकि ये तीनों ज्ञान स्वयं जाने हुये पदार्थ के स्वरूप का दूसरेको बोध नहीं करा सकते हैं। ये तीनों ज्ञान स्वयं ही मूक (गूंगे) हैं। ये अपने जाने हुये विषयके स्वरूप का अनुभव दूसरे को स्वयं कराने में सर्वथा असमर्थ हैं। श्रुत ज्ञान के द्वारा ही उसका बोध करा सकते हैं। यद्यपि वास्तव में देखा जाय तो केवल ज्ञान भी मूक ही है। परन्तु चूंकि वह समस्त पदार्थों को ग्रहण करने वाला होने के कारण प्रधान है, इस लिये शब्द नय उसका आश्रय लेता है। इसके अतिरिक्त एक बात यह भी है, कि चेतना (ज्ञान) का परिणमन सभी जीवों में पाया जाता है। इस नय की दृष्टि से एकन्द्रियादि कोई भी जीव न मिथ्यादृष्टि है,और न अज्ञानी ही है। क्योंकि सभी जीव अपने अपने विषय (स्पर्श को स्पर्श और रस को रस)का ज्ञान करते हैं। उनके इस ज्ञान में अयथार्थता नहीं होती। कोई भी प्राणी रस को स्पर्श और स्पर्श को रस नहीं जाना करता। अथवा किसी में इनके जानने के ज्ञान का अभाव भी नहीं है। ज्ञान जीव का लक्षण है वह तो सब में रहता ही है। कम से कम अक्षर के अनन्तवें भाग प्रमाण तो रहता ही है। इस अपेक्षा से सभी जीव सम्यग्दृष्टि और

ज्ञानी हैं। अतएव इस दृष्टिसे कोई विपरीत ज्ञानी नहीं ठहरता है, किन्तु यह कथन शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा से है, अतएव सर्वथा ऐसा ही नहीं समझना चाहिये। कर्मोपाधि रहित शुद्ध जीव का स्वभाव ऐसा है, परन्तु लोक व्यवहार एक नय के द्वारा नहीं किन्तु सम्पूर्ण नयों के ऊपर ही अवलम्बित है।

जिस तरह आपस में एक दूसरे की अपेक्षा रखने वाले तंतु (डोरा या तागा) जिस समय बुने जाते हैं, उस समय उनकी पट (वस्त्र) संज्ञा हो जाती है। तथा मनुष्यों के शीत निवारण आदि प्रयोजनों में काम आते हैं, किन्तु वे ही जब पृथक् २ रहते हैं, उस समय किसी भी प्रयोजन को सिद्ध नहीं कर सकते हैं। उसी प्रकार परस्पर† सापेक्ष आपस में (एक दूसरे की अपेक्षा रखने वाले) और कहीं गौण तो कहीं मुख्य रूप से विवक्षित ही नय सम्यग्दर्शन के कारण हैं। यदि वे परस्पर सापेक्ष न होंगे तो कभी भी सम्यग्दर्शन के कारण नहीं हो सकते हैं।

वस्तुतः प्रत्येक दर्शन (मत) नयवाद में गर्भित हो जाता है। जिस समय नय रूप दर्शन परस्पर निरपेक्ष भाव से वस्तु का प्रतिपादन करते हैं, उस समय वे (दर्शन) पर समय (मिथ्या) कहलाते हैं। जिस प्रकार सरल और टेढ़े मार्ग से जाने वाली भिन्न२ सम्पूर्ण नदियां अन्त में जाकर एक ही समुद्र में मिलती हैं। उसी तरह भिन्न२ रुचियों के कारण उत्पन्न होने वाले समस्त दर्शन समूह का एक ही अनेकान्त दर्शन में (सम्पूर्ण जैनेतर दर्शनों का) समन्वय होता है। इसलिये जैनदर्शन समन्वयवाद (स्व समय

---

† निरपेक्षा नयाः मिथ्या सापेक्षा वस्तुतेऽर्थ कृत्।

'देवागमस्तोत्र'

अर्थात् सम्यक्) है।

उदाहरणार्थ ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा बौद्ध, संग्रह नय की अपेक्षा वेदान्त, नैगम नय की अपेक्षा न्याय वैशेषिक, शब्द नयकी अपेक्षा शब्द ब्रह्मवादी, तथा व्यवहार नय की अपेक्षा चार्वाक दर्शनों, को सत्य कहा जा सकता है। ये नय रूप समस्तदर्शन परस्पर विरुद्ध होकर भी समुदित होकर सम्यक्त्व रूप कहे जाते हैं। जिस प्रकार भिन्न भिन्न मणियों के एकत्र गूंथे जाने से एक सुन्दर माला तैयार हो जाती है। उसी तरह जिस समय भिन्न२ दर्शन सापेक्षवृत्ति धारण करके एकत्रित होजाते हैं, उस समय ये 'जैन-दर्शन' कहे जाते हैं। अतएव जिस प्रकार धनधान्य आदि वस्तुओं के लिये विवाद करने वाले पुरुषों को कोई साधु पुरुष समझाबुझा कर शान्त कर देता है, उसी तरह 'स्याद्वाद' परस्पर एक दूसरे के ऊपर आक्रमण करने वाले दर्शनों को सापेक्ष सत्य मानकर सब का 'समन्वय' करता है। इसी लिये जैन विद्वानों ने जिन भगवान् के वचनों को मिथ्यादर्शनों का समूह मान कर भी अमृत का सार बतलाया है। वास्तव में सच्चा अनेकान्तवादी किसी भी दर्शन से द्वेष नहीं करता। वह सम्पूर्ण नय रूप दर्शनों को इस प्रकार से वात्सल्य की दृष्टि से देखता है, जैसे कोई पिता अपने पुत्रों को देखता है। सच्चा शास्त्रज्ञ कहे जाने का अधिकारी वही है जो स्याद्वाद का अवलंबन लेकर सम्पूर्ण दर्शनों में समानभाव रखता है।

माध्यस्थभाव ही समस्त शास्त्रों का गूढ़ रहस्य है। माध्यस्थ भाव रहने पर शास्त्रों के एक पद का ज्ञान भी सफल है, अन्यथा करोड़ों शास्त्रों को पढ़ जाने से भी कोई लाभ नहीं है। वह दूसरों के सिद्धान्तों को आदर की दृष्टि से देखता है। और माध्यस्थभाव

से सम्पूर्ण विरोधोंका समन्वय करताहै वही सच्चा स्याद्वादी सहिष्णु होता है। वह राग द्वेष रूप आत्मा के विकारों पर विजय प्राप्त करने का निरन्तर प्रयत्न करता रहता है। अतएव जिस समय ये नय अन्य धर्मोंका निषेध करके केवल अपने अभीष्ट (इच्छानुकूल) धर्म का ही एकान्त से प्रतिपादन करते हैं, उस समय ये दुर्नय कहे जाते हैं। एकान्तवादी लोग वस्तु के एक धर्म को सत्य मान कर अन्य धर्मों का निषेध करते हैं। इसलिये वे लोग दुर्नयवादी कहे जाते हैं।

इन नयों के जाने बिना वस्तु स्वरूप का पूर्ण ज्ञान नहीं हो सकता। तत्वज्ञानको सिद्ध करने के लिये इनका स्वरूप अवश्यमेव जाननेका उद्योग करना चाहिये। निःसन्देह जैनाचार्यों ने 'एकता का दर्शन कराने वाले स्याद्वाद का प्रतिपादन करके विश्व (संसार) को महान् सेवा अथवा कल्याण किया है।'

श्लोक—ज्ञानदर्शनयो स्तत्वं नयानां चैव लक्षणम् ।
ज्ञानस्य च प्रमाणत्व मध्यायेऽस्मिन् निरूपितम् ॥१॥

†—यस्य सर्वत्र नयेषु तनयेष्विव ।
तस्यानेकान्त वादस्य क्व न्यूनाधिक शेमुषी ॥
तेन स्याद्वाद मालंब्य सर्व दर्शन तुल्यतां ।
मोक्षोद्देश्य विशेषेण यः पश्यति सः शास्त्रवित् ॥१॥
माध्यस्थमेव शास्त्रार्थो येन तच्चारु सिध्यति ।
स एव धर्मवादः स्यादन्य द्वालिशा वल्गनम् ॥
माध्यस्थ सहितं ह्येक पद ज्ञानमपि प्रमा ।
शास्त्र कोटिः वृथैवान्या तथाचोक्तं महात्मना ॥
अध्यात्मसारे ॥

भावार्थः—इस प्रथम अध्याय में ज्ञानदर्शन तत्व और नयों के स्वरूप वा लक्षणों का वर्णन किया गया है। और सन्निकर्ष आदि की प्रमाणता के परिहार पूर्वक ज्ञान का प्रमाणत्व बतलाया गया है। इति।

इस प्रकार श्रीमत्पूज्यवर्य आचार्य श्री उमास्वामि कृत मोक्ष-शास्त्र द्वितिय नाम तत्वार्थ सूत्र की [अटेर-ग्वालियर-निवासी सिद्धान्त-भूषण,विद्यालंकार(पं०)वटेश्वरदयालु बकेवरिया शास्त्री द्वारा निर्मित] तत्वार्थदीपिका नामक हिन्दी भाषा टीका में पहला अध्याय समाप्त हुआ। ओं, शान्ति, शान्ति, शान्ति।

ॐ नमः सिद्धेभ्यः

दूसरा अध्याय।

(२)

पहले अध्याय में सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय, नय, निक्षेप, और प्रमाण का विस्तार पूर्वक व्याख्यान कर चुके हैं। मोक्ष मार्ग में सहायक प्रयोजनभूत सात तत्वों का वर्णन अधिक आवश्यक है। क्योंकि पहले अध्याय में मात्र उनके नाम आदि का ही प्रतिपादन किया गया है। परन्तु अब उनका बिस्तार पूर्वक कथन किया जायगा, जिसमें सब से प्रथम जीवतत्व के वर्णन में जीवके पांच भावों को बताने के लिये सूत्र कहते हैं—

औपशमिक क्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्व मौदयिक पारिणामिकौ च ॥१॥

सूत्रार्थः—(जीवस्य) जीव के (औपशमिक क्षायिकौ) औपशमिक, और क्षायिक, (भावौ) भाव (च मिश्रः) और मिश्र (औदयिक पारिणामिकौच) औदयिक, तथा पारिणामिक भाव, ये पांच भाव हैं। और ये पांचों ही भाव जीव के (स्वतत्वं) निज तत्व अथवा निज भाव हैं। अर्थात् ये जीव में ही होते हैं।

विशेषार्थः—जो भाव कर्मों के उपशम से अर्थात् दबने से उत्पन्न होते हैं, उनको 'औपशमिक भाव'† कहते हैं। जो कर्मों के क्षय (नाश) से उत्पन्न होते हैं, उनको 'क्षायिक भाव'‡ कहते

---

† उपशमाज्जातः इति औपशमिकः।

‡ क्षयात् जातः इति क्षायिकः।

हैं। कर्मों के क्षयोपशम से होने वाले भावों को 'क्षायोपशमिक भाव'§ कहते हैं। ये क्षायोपशमिक भाव सर्व घाती कर्मों के उदयाभावी क्षय (बिना ही फल दिये निर्जरा) और उन्हीं सर्वघाती* स्पर्द्धकों (वर्गणाओं के समूह को 'स्पर्द्धक' कहते हैं) का सत्ता में उपशम होने तथा देशघाती (जो जीव के अनुजीवी गुणों को एक देश घाते, उसको 'देशघाति' कर्म कहते हैं और भाव स्वरूप गुणों को 'अनुजीवी' गुण कहते हैं, जैसे सम्यक्त्व, चारित्र, सुख, चेतना, स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णादिक) कर्मों के उदय होने से होते हैं, इनको 'मिश्र भाव' भी कहते हैं। इस विषय पर 'राजवार्तिक' में कोदों का एक उदाहरण दिया गया है। कोदों जो कि एक प्रकार का मादक (नशा करने वाला) धान्य पदार्थ होता है। जिस समय वह जल से धो दिया जाता है, उस समय धोने से उसकी कुछ मादक शक्ति क्षीण (कम) हो जाने से, और कुछ के उसी में रहने से, जिस प्रकार कोदों पदार्थ मिश्र मादक शक्ति का धारक कहलाता है। उसी प्रकार कर्मों के क्षय करने वाले कारणों के उपस्थित होने पर कर्म की कुछ शक्ति के नष्ट हो जाने पर, और कुछ के सत्ता में मौजूद रहने पर, एवं कुछ के उदय रहने पर, जो आत्मा के (दही गुड़ के समान मिश्रित) भावों की दशा होती है। उस अवस्था का नाम मिश्र अथवा 'क्षायोपशमिक' है। कर्मों के उदय से होने वाले भावों को 'औदयिक भाव' कहते हैं। परन्तु जिसके उत्पन्न होने में कर्म की कुछ भी अपेक्षा ही नहीं, अर्थात्

---

§ क्षयोपशमात् जातः इति क्षायोपशमिकः।

* जो जीव के अनुजीवी गुणों को पूरे तौर से घाते, उसको 'सर्व घाति' कर्म कहते हैं।

जो स्वतः प्रगट रहते हैं, उनको 'पारिणामिक भाव'‡ समझना चाहिये। इन पांच भावों के अतिरिक्त अस्तित्व, वस्तुत्वादिक और भी अनेक भाव हैं, जिनको भी जीव के स्वतत्व कहते हैं। परन्तु यहां पर उनका ग्रहण नहीं है। क्योंकि वे जीव के 'असाधारण' (जो जीव के अतिरिक्त अन्य द्रव्य में न हों) भाव नहीं हैं। यहां पर जीव के पांच असाधारण भावों को ही दिखलाया है। अस्तित्वादिक जो भाव हैं, वे जीव और अजीव दोनों ही में पाये जाते हैं, इसलिये उनको असाधारण भाव नहीं कह सकते हैं। जो जीव उपयोग अर्थात् ज्ञान, दर्शन, गुणों को धारण करने वाला है, अर्थात जो जीता है, और जानता, देखता है, एवं प्राणों को धारण करता है, उसको 'जीव' कहते हैं। सिद्ध जीवों में यद्यपि द्रव्य प्राण नहीं रहते हैं, क्योंकि वे कर्मों की अपेक्षा से होने वाले हैं। परन्तु ज्ञान दर्शनादिक भाव प्राण तो उनके भी रहते हैं। क्योंकि उनमें कर्मों की कुछ भी अपेक्षा नहीं है, वे नित्य और स्वतन्त्र हैं।

औपशमिक और क्षायिक भाव तो भव्य जीव के ही पायेजाते हैं। शेष तीन भाव भव्य और अभव्य दोनों प्रकार के जीवोंही के पाये जाते हैं। औपशमिक और क्षायिक भावों की निर्मलता एक सी होती है। परन्तु दोनों में यह अन्तर भी है कि औपशमिक भावों में तो प्रतिपक्षी (विरोधी) कर्मों की सत्ता रहती है। किन्तु क्षायिक भावों में प्रतिपक्षी कर्मों की बिल्कुल भी सत्ता नहीं रहती है। जैसे—कीचड़ सहित जल में यदि निर्मली (फिटकड़ी) आदि डाल दी जाय, तो उससे कीचड़ पानी के नीचे बठ जायगा, और

‡ द्रव्यात्म लाभ मात्र हेतुकः परिणामः। स. सि.

ऊपर निर्मल जल हो जाता है। इसी प्रकार की औपशमिक भाव की अवस्था समझनी चाहिये। यदि उसी निर्मल जल को किसी दूसरे बर्तन में नितार लिया जाय, तो उसके नीचे कीचड़की सत्ता नहीं पाई जाती है। इसी प्रकार की अवस्था क्षायिक भावों में होती है। क्षायोपशमिक में यह विशेषता है कि प्रतिपक्षी कर्म की देशघाती प्रकृति का फल और उदय भी पाया जाता है। जैसे— कीचड़ सहित जल में निर्मली आदि डाल देने से कुछ कीचड़ का भाग तो नीचे बैठ जाय, और कुछ भाग जल में ही मिला रहे, उसी प्रकार क्षायोपशमिक भावों में कर्म की क्षीण और अक्षीण दोनों ही अवस्थायें हुवा करती हैं। और पारिणामिक भावों में चाहे वे साधारण हों, अथवा असाधारण हो, कर्म की कुछ भी अपेक्षा नहीं है। वे तो स्वतः सिद्ध भाव हैं।

ऊपर 'सूत्र' में औपशमिकादि भावों को क्रमशः ग्रहण करने का कारण यह है, कि उपशम सम्यक्त्व का काल अन्तर्मुहूर्त है। इस लिये सम्यग्दृष्टियों में सब से थोड़े औपशमिक सम्यग्दृष्टि हैं। उससे अधिक क्षायिक सम्यग्दृष्टि है क्योंकि उसका काल कुछ अधिक तेतीस सागर प्रमाण बतलाया है। उससे भी अधिक क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि हैं, क्यों कि क्षायोपशमिक सम्यक्त्व का काल कुछ अधिक छयासठ सागर प्रमाण हैं। जिसका विषय अल्प होता है, उसको पहले ग्रहण किया जाता है। इसी नियमानुसार औपशमिक का विषय सब से अल्प है। अतएव उसी को सूत्र में पहले ग्रहण किया गया है। इसी प्रकार उत्तरोत्तर समझना चाहिये। औदयिक और पारिणामिक भाव सर्व जीवों में पाये जाते हैं, और इन दोनों (औदयिक और परिणामिक) का विषय औपशमादि की अपेक्षा अनन्त गुणा है, इस लिये उन दोनों को

सब के अन्त में ग्रहण किया है।

जिन औपशमिक आदि भावों का ऊपर नाम-उल्लेख किया गया है, उनके उत्तर भेदों की संख्या बताने के लिये सूत्र कहते हैं।

द्विनवाष्टा दशैक विंशति त्रिभेदा यथाक्रमम् ॥२॥

सूत्रार्थः—इन पांचों भावों के (यथाक्रमम्) क्रमानुसार (द्विनवाष्टा दशैक विंशति त्रिभेदाः) दो, नव, अठारह, इक्कीस, और तीन भेद हैं। अर्थात् औपशमिक भाव दो प्रकार का है। क्षायिक भाव नौ तरह का होता है। क्षायोपशमिक भाव के अठारह भेद हैं। औदयिक भाव इक्कीस प्रकार का है। और पारिणामिक भाव के तीन भेद हैं। ये दो आदिक भाव कौन २ से हैं, उसको आगे चलकर क्रमानुसार बतायेंगे।

अब क्रमानुसार औपशमिक भाव के दो भेदों को बताने के लिये सूत्र कहते हैं—

सम्यक्त्व चारित्रे ॥३॥

सूत्रार्थः—औपशमिक सम्यक्त्व, और औपशमिक चारित्र, ये दो औपशमिक भाव के भेद हैं। इन दोनों का वर्णन नीचे किया जाता है—

विशेषार्थः—औपशमिक सम्यक्त्व का स्वरूप पहले अध्याय में विस्तार पूर्वक लिख चुके हैं। और चारित्र का विस्तृत व्याख्यान नवमें अध्याय में किया जायगा, परन्तु इन दोनों का संक्षेप स्वरूप इस प्रकार है—सम्यग्दर्शन को घातने वाले जो कर्म हैं वे तीन, दर्शन मोह, की प्रकृतियां, और चार, अनन्तानुबन्धी कषाय की चौकड़ी, इन सातों प्रकृतियों का उपशम (दवा देना) हो जाने पर

जो तत्वरुचि हुवा करती है उसको 'औपशमिक सम्यक्त्व' कहते हैं। यह कथन सादि मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा से किया गया है। क्योंकि अनादि मिथ्यादृष्टि के मिश्र और सम्यक्त्व प्रकृति के सिवाय पांच प्रकृतियों के उपशम से ही उपशम सम्यक्त्व होता है। अनादि मिथ्यादृष्टि दर्शनमोह के तीन खंड नहीं कर पाता, इसलिये उसके एक मिथ्यात्व कर्म और चार अनन्तानुबन्धी कषाय इस प्रकार कुल पांच प्रकृतियों का ही उपशम होता है। और सादि मिथ्यादृष्टि एक बार सम्यक्त्व के प्राप्त हो जाने से दर्शनमोह को तोड़ कर उसके तीन टुकड़े कर डालता है, वे तीन टुकड़े ये हैं— मिथ्यात्व, सम्यङ् मिथ्यात्व, और सम्यक्त्व प्रकृति। इन तीनों में उत्तरोत्तर सम्यग्दर्शन को घात करने की शक्ति कम कम होती गई है। सब से अधिक मिथ्यात्व प्रकृति में सम्यग्दर्शन के घातने की की शक्ति है, क्योंकि मिथ्यात्व कर्म के उदय से सम्यग्दर्शन का सर्वथा घात होजाता है, और उस से कम सम्यङ् मिथ्यात्व प्रकृति में सम्यक्त्व के घातने की शक्ति है। सम्यङ् मिथ्यात्व के उदय होने पर सम्यक्त्व का सर्वथा घात नहीं होता, किन्तु मिश्र परिणाम में कुछ सम्यक्त्व रूप, और कुछ मिथ्यात्व रूप मिली हुई अवस्था हो जाती है, और इससे भी कम सम्यक्त्व प्रकृति में सम्यग्दर्शन के घातने की सामर्थ्य है। इस सम्यक्त्व प्रकृति के उदयसे सम्यग्दर्शन का घात न होकर सिर्फ चलमलादिक दोष ही पैदा हो जाते हैं। इन तीनों प्रकृतियों की शक्तियों के उत्तरोत्तर हीनाधिक्य का ज्ञान इस उदाहरण से अच्छी तरह हो जायगा– धानों (जिसमें से चावल निकलते हैं) को दलने पर उसके तीन प्रकार के भाग हो जाते हैं। एक–चावल रूप, दूसरा–कुछ चावल की किनकी, और कुछ– चावल के ऊपर की भूसी दोनों का मिला हुवा हिस्सा, और

तीसरा–सिर्फ भूसी। समूचे धान को 'दर्शन मोह कर्म' समझना चाहिये। और चावल को 'मिथ्यात्व कर्म', भूसी को 'सम्यक्त्व प्रकृति', तथा चावलों और भूसी के मिले हुये अंश को 'सम्यङ् मिथ्यात्व' जानना चाहिये। जिस प्रकार चावल में जीवन शक्ति के अंश अधिक होते हैं, उसी प्रकार मिथ्यात्व में सम्यक्त्व घातक शक्ति के अंश अधिक होते हैं। चावल से कम भूसी और चावल के मिले हुये भाग में उस शक्ति के अंशकम होते हैं, उसी प्रकार सम्यङ् मिथ्यात्व में (मिथ्यात्व से कम) सम्यक्त्व घातक शक्ति के अंश कम होते हैं। एवं जैसे भूसी में सब से कम शक्ति के अंश रह जाते हैं, वैसे ही सम्यक्त्व प्रकृति में सम्यक्त्व घातक शक्ति के अंश बिल्कुल ही कम रह जाते हैं। सादि मिथ्यादृष्टि इस प्रकार तीन टुकड़े करके दर्शन मोह को हलका कर लेता है। परन्तु अनादि मिथ्यादृष्टि का दर्शन मोह सादि मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा अधिक भारी होता है। क्योंकि उसने उस को तीन भागों में विभाजित नहीं कर पाया है। इस प्रकार सादि मिथ्यादृष्टि सात प्रकृतियों के उपशम से, और अनादि मिथ्यादृष्टि पांच ही प्रकृतियों के उपशम से उपशम सम्यक्त्व प्राप्त कर लेता है।

इस उपशम सम्यग्दर्शन के दो भेद हैं, एक प्रथमोपशम और दूसरा द्वितीयोपशम सम्यक्त्व। अनादि और सादि मिथ्यादृष्टि के उपशम सम्यक्त्व को 'प्रथमोपशम सम्यक्त्व' कहा जाता है। और क्षयोपशम सम्यक्त्व से उपशम श्रेणी चढ़ने से पहले सातवें गुण-स्थान में जो उपशम सम्यत्क्व होता है, उसको 'द्वितीयोपशम सम्य-क्त्व' कहते हैं। उपशम सम्यक्त्व का विशेष वर्णन पहले अध्याय में विस्तार पूर्वक लिख आये हैं। अतएव यहां पर पुनः लिखना उचित नहीं है।

यह उपशम सम्यक्त्व चारों गतियों में उत्पन्न हो सकता है, इसकी उत्पत्तिके लिये अन्तरंग कारण दर्शन मोह, और अनन्तानुबन्धी कषाय का, उपशम होजाना है। तथा चारों गतियों में भिन्न भिन्न प्रकार के वहिरंग कारण भी हुवा करते हैं, इन वहिरंग कारणों का वर्णन पहले अध्याय में भी विस्तार से कर चुके हैं, यह उपशम सम्यक्त्व अंतर्मुहूर्त से अधिक नहीं ठहरता है। अंतर्मुहूर्त के बाद या तो क्षयोपशम सम्यक्त्व होता है, या मिथ्यात्व हो जाता है।

चारित्र मोह कर्म का उपशम हो जाने पर जो चारित्र गुण प्रकट होकर शुभ और अशुभ क्रियायों की निवृत्ति (त्याग) हो जाती है, उसको 'औपशमिक चारित्र'† कहते हैं। यह चारित्र गुण ग्यारहवें गुणस्थान में ही पूर्ण हुवा करता है। क्योंकि चरित्र मोह की शेष २१ इक्कीस प्रकृतियों का उपशम वहीं पर होता है। अनादि मिथ्यादृष्टि भव्य जीव के भी काललब्धि, जाति स्मरण, आदि कारणों से दर्शन मोह का उपशम होकर 'प्रथमोपशम सम्यक्त्व' उत्पन्न होजाता है। परन्तु प्रत्येक दशा में पंचेन्द्रिय, सैनी, भव्य, और पर्याप्त,के ही सम्यक्त्व उत्पन्न होता है। दर्शन मोह का उपशम चारों गतियों में हो सकता है। तिर्यंचों के जन्म के सात आठ दिन के बाद प्रथमोपशम सम्यक्त्व उत्पन्न हो सकता है। इस से पहले नहीं। यह नियम द्वीप समुद्र निवासी सभी प्रकार के तिर्यंचों के लिये है, इसी प्रकार मनुष्यों में आठ वर्ष के बाद ही प्रथमोपशम सम्यक्त्व उत्पन्न हो सकता है, और यह नियम ढाई द्वीप निवासी सभी मनुष्यों के लिये है। किन्तु देवों में अन्तर्मुहूर्त के बाद ही प्रथमोपशम सम्यक्त्व उत्पन्न होसकता है। यह नियम सभी

† सम्यग्ज्ञान वत॰ कर्मादान हेतु क्रियोपरमः सम्यक् चारित्रम्। स.सि.

प्रकार के देवों के लिये समझना चाहिये। इसी प्रकार नरकों में भी अन्तर्मुहूर्त (४८ मिनिट) के बाद प्रथमोपशम सम्यक्त्व उत्पन्न हो सकता है। और यह नियम सातों नरकों के नारकियों के लिये है।

नारकियों के जाति स्मरण, धर्मश्रवण, और वेदना, से पीड़ित होने पर प्रथमोपशम सम्यक्त्व उत्पन्न होता है। चौथे नरक से सातवें नरक तक, वेदना और जाति स्मरण, दो ही कारण हैं, धर्म श्रवण नहीं है। क्योंकि तीसरे नरक तक ही असुर कुमार देवोंका गमन होता है। पशुओं के जातिस्मरण, धर्म श्रवण, जिनबिंब दर्शन ये तीन कारण हैं। और मनुष्यों के भी पशुओं के समान ये ही तीन कारण हैं। भवनवासी देवों से लेकर बारहवें स्वर्ग तक जातिस्मरण, धर्मश्रवण, जिनबिंब दर्शन, और देवों की ऋद्धि का देखना, ये चार कारण हैं। तेरहवें स्वर्ग से लेकर सोलह स्वर्ग पर्यन्त देवऋद्धि के बिना तीन ही कारण हैं। इससे ऊपर जाति स्मरण, धर्म श्रवण, ये दो ही कारण हैं।

अब क्रमानुसार क्षायिक भाव के नौ भेदों को बताने के लिये सूत्र कहते हैं—

ज्ञान दर्शन दान लाभ भोगोपभोग वीर्याणि च ॥४॥

सूत्रार्थः—(ज्ञानदर्शन दान लाभ, भोगोपभोग वीर्याणि) केवलज्ञान, केवलदर्शन, क्षायिकदान, क्षायिकलाभ, क्षायिकभोग, क्षायिक-उपभोग, क्षायिकवीर्य, (च) और चकार से क्षायिक सम्यक्त्व, तथा क्षायिक चारित्र, ये 'नव क्षायिक भाव' हैं ॥४॥

विशेषार्थः—प्रतिपक्षी कर्मों के सर्वथा नष्ट होजाने पर आत्मा में ये 'नव क्षायिक भाव' उत्पन्न होते हैं। कर्मोंके क्षय से उत्पन्न होते

हैं, इसलिये इनको 'क्षायिक भाव' कहते हैं। ज्ञानावरण कर्म के सर्वथा नाश होने पर आत्मा में क्षायिक ज्ञान (केवलज्ञान) और दर्शनावरण कर्म के सर्वथा नाश होने पर क्षायिक दर्शन (केवलदर्शन) उत्पन्न होता है। इन दोनों कोक्रमशः अनन्त ज्ञान, और अनन्तदर्शन भी कहते हैं। इन दोनों के आत्मा में उत्पन्न होजाने पर देखने और जानने की इतनी शक्ति होजाती है, कि वह आत्मा संसार भर के समस्त पदार्थों को, और उनकी तीन काल सम्बन्धी अनन्तानन्त पर्यायों को एक साथ प्रत्यक्ष देखने और जानने लगता है। संसार भर के पदार्थों में कोई भी पदार्थ ऐसा शेष नहीं रहता, जो उनके ज्ञानदर्शन का विषय न हो। अर्थात् सब पदार्थ उनके दर्शन ज्ञान में स्वतः झलकते हैं।

दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय, और वीर्यान्तराय, के भेद से अन्तराय कर्म पांच प्रकार का होता है। उनमें दानान्तराय कर्म के नाश होने से भूत, भविष्यत, और वर्तमान काल, सम्बन्धी समस्त प्राणियों का उपकार करने वाला 'अभयदान' प्रगट होजाता है, इसी को 'क्षायिकदान'† कहते हैं। यद्यपि आहार, औषधि, शास्त्र, और अभयदान, के भेद से दान चार प्रकार का होता है, परन्तु अभयदान, के सिवाय शेष तीन प्रकार के दान क्षायोपशमिक दान हैं, क्षायिक नहीं। अभयदान ही मात्र क्षायिकदान है, यही केवली भगवान के होता है। लाभान्तराय कर्म के सर्वथा नष्ट होजाने पर 'क्षायिक लाभ' प्रगट होता है। औदारिक शरीर की स्थिति बिना कवलाहार के किंचित् न्यून पूर्व कोटि वर्ष प्रमाण मानी गई है। वह इसी क्षायिक लाभ के

† दानान्तरायस्यात्यन्तक्षयादनन्तप्राणिगणानुग्रहकरं क्षायिकमभयदानम्। स० सि०

आधीन है। केवली भगवान के शरीर में प्रति समय परम शुभ सूक्ष्म अनन्तपुद्गलों का ग्रहण होता है। इसीका नाम 'क्षायिकलाभ'‡ है। और इसी से उनका शरीर ज्यों का त्यों शक्तिमान् बना रहता है। भोगान्तराय कर्म के सर्वथा नाश होने पर जो अतिशयवान् अनन्तभोग आत्मा में प्रगट होता है। यह 'क्षायिकभोग'† है। और उसके प्रगट हो जाने पर सुगन्धित पुष्पवृष्टि, मंद सुगन्ध पवन चलना, आदि बाह्य अतिशय केवली भगवान् के प्रगट हो जाते हैं। उपभोगान्तराय कर्म के सर्वथा नष्ट होजाने पर आत्मा में अनन्त उपभोग प्रगट होजाता है। उसको 'क्षायिक उपभोग'* कहते हैं। इसके प्रगट होने पर सिंहासन, चौंसठ चमर, अशोक-वृक्ष, तीन छत्र, भामण्डल, दिव्यध्वनि, और देव दुन्दुभि, आदि अतिशय केवली भगवान के होते हैं। वीर्यान्तराय कर्म के सर्वथा नाश होजाने से आत्मा में जो अनन्त वीर्य प्रगट होता है, उसको 'क्षायिक वीर्य'§ कहते हैं। इस अनन्त वीर्य के उदय से केवली भगवान् के ज्ञान में समस्त मूर्तिक अमूर्तिक पदार्थों के जानने की शक्ति प्रगट होजाती है। मोह कर्म की अट्ठाईस प्रकृतियों में सात

---

‡ लाभान्तरायस्याशेषस्य निरासात्परित्यक्त कवलाहार क्रियाणां केवलिनां यतः शरीर बलाधान हेतवोऽन्य मनुजा साधारणाः परमशुभाः सूक्ष्मा अनन्ताः प्रति समयं पुद्गलाः सम्बन्धमुपयान्ति स क्षायिको लाभः।

स० सि०

† कृत्स्नस्य भोगान्तरायस्यात्यन्ता भावा दाविर्भूतो ऽतिशय वाननन्तो भोगः क्षायिकः। यतः कुसुमवृष्टि-आदयो विशेषाः प्रादुर्भवन्ति।

* निरवशेषस्योपभोगान्तरायस्य प्रलयात्प्रादुर्भूतोऽनन्त उपयोगः क्षायिक यतः सिंहासन चामरच्छत्रत्रयादयः विभूतयः। स० सि०

§ वीर्यान्तरायस्य कर्मणो उत्पन्न क्षयादाविर्भूतो ऽनन्त वीर्यं क्षायिकम्।

प्रकृतियोंके सर्वथाक्षय होजाने पर 'क्षायिक सम्यक्त्व', और चारित्र मोह की पच्चीस प्रकृतियों के सर्वथा नाश होने पर 'क्षायिक चारित्र', उत्पन्न होता है। इनमें से क्षायिक सम्यक्त्व चौथे से लेकर सातवें गुणस्थान तक किसी भी गुणस्थान में उत्पन्न होजाता है। क्षायिक सम्यक्त्व का विस्तार सहित वर्णन पहले अध्याय में सम्यक्त्व के प्रकरण में किया गया है। क्षायिक सम्यक्त्व के प्राप्त होजाने पर यह जीव अधिक से अधिक चौथे भव में नियमसे अवश्य मोक्ष प्राप्त कर लेता है। और क्षायिक चारित्र बारहवें गुणस्थान के अन्त में ही प्रगट होता है। क्षायिक चारित्र के प्रगट होते ही आत्मा अपने आप में लीन होकर कर्मों के नाश करने में समर्थ होजाता है। और फिर उसी भव से मोक्ष प्राप्त कर लेता है। क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायिक चारित्र के अतिरिक्त शेष सात क्षायिक भाव (क्षायिक ज्ञान, क्षायिक दर्शन, क्षायिक दान, क्षायिक-लाभ, क्षायिक भोग, क्षायिक उपभोग, और क्षायिक वीर्य) तेरहवें गुणस्थान में ही प्रगट होते हैं।

शास्त्रों में सिद्धत्वभाव को भी क्षायिक भाव माना है। परन्तु यहां पर क्षायिक भाव के भेदों में उसको ग्रहण नहीं किया, उसका कारण यह है, कि सिद्धत्व भाव कोई इन भावों से पृथक् भाव नहीं है। किन्तु इन नव क्षायिक भावों के समूहका नाम ही 'सिद्ध-त्व भाव' है। इन नव भावों के उल्लेख रहने से ही जब सिद्धत्व पर्याय का कथन होजाता है, तब फिर उसके भिन्न मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। यदि यहां पर सूक्ष्म विचार किया जाय, तो मालूम होगा, कि यह सिद्धत्वपना 'भाव' नहीं है, किन्तु इन नव भावों के समूह से उत्पन्न होने वाली एक 'अवस्था विशेष' है। अर्थात्-आत्मा के शुद्ध गुणों की सामुदायिक अवस्था विशेष को

'सिद्धत्व पर्याय' समझना चाहिये। यह पर्याय नित्य होने से अनन्तकाल तक कायम रहती है। इस सिद्धत्व पर्याय को 'स्वभाव अर्थ पर्याय' भी कह सकते हैं। सिद्धत्व पर्याय आठों कर्मों के नाश होने से उस समय जो आत्मा की 'अवस्था विशेष' होती है, उसको सिद्धत्वपना समझना चाहिये, वह इन नव भावों से अतिरिक्त अपनी पृथक् सत्ता नहीं रखती है।

अब क्षायोपशमिक भाव के अठारह भेदों को बताने के लिये सूत्र कहते हैं—

ज्ञानाज्ञान दर्शन लब्धयश्चतुस्त्रित्रिपंच भेदाः सम्यक्त्व चारित्र संयमासंयमाश्च ॥५॥

सूत्रार्थः—(ज्ञानाज्ञान दर्शन लब्धयः चतुस्त्रि त्रिपंच भेदाः) मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यय ज्ञान, ये चार ज्ञान, कुमति ज्ञान, कुश्रुत ज्ञान, कुअवधि ज्ञान, ये तीन अज्ञान (कुज्ञान) चक्षुःदर्शन, अचक्षुःदर्शन, अवधि दर्शन, ये तीन दर्शन, क्षायोपशमिक दान, क्षायोपशमिक लाभ, क्षायोपशमिक भोग, क्षायोपशमिक उपभोग, और क्षायोपशमिक वीर्य, ये पांच लब्धियां, तथा (सम्यक्त्व चारित्र संयमा संयमाश्च) क्षायोपशमिक सम्यक्त्व, सराग चारित्र, और संयमा संयम ‡(देशव्रत) इस प्रकार ये अठारह

‡ हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, और परिग्रह, इस तरह पांच प्रकार के पाप होते हैं, ये दो प्रकार से होते हैं। संकल्प (इरादा) पूर्वक, और आरम्भ निमित्तक, श्रावक दशा में संकल्प पूर्वक इन पांच पापों के त्याग की अपेक्षा से संयम और आरम्भ निमित्तक पापों का त्याग न हो सकने की अपेक्षा असंयम रहता है। अतएव श्रावक के व्रतों को 'संयमासंयम' कहते हैं। इन पांच पापों के संयमासंयम रूप त्याग को पंचाणुव्रत और

भाव क्षायोपशमिक हैं, ये सबही भाव आत्मा में कर्मों के क्षयोपशम से होते हैं, इस लिये इनको 'क्षायोपशमिक भाव' कहते हैं।

विशेषार्थ:—ज्ञानावरण कर्मको आदि लेकर कर्म के आठ भेद हैं, जिनमें चार (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय) कर्म घाती*, और चार (आयु, नाम, गोत्र, वेदनीय) कर्म ‡अघाती कहलाते हैं। घाती कर्मों में दो प्रकार के अंश होते हैं, एक देशघाती, और दूसरे सर्वघाती, देशघाती कर्मों के §छब्बीस भेद हैं। इन्हीं घाती कर्मों के क्षयोपशम से आत्मा में 'क्षायोपशमिक भाव' प्रकट होते हैं। वीर्यान्तराय और मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण और मनःपर्यय ज्ञानावरण कर्मों के सर्वघाती स्पर्द्धकों के उदयाभावी क्षय होने पर, और उन्हींका सत्ता में उपशम रहने पर, तथा देशघाती स्पर्द्धकोंके उदय रहने पर, क्रमसे क्षायोपशमिक मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, और मनःपर्ययज्ञान, प्रकट होते हैं। इस प्रकार क्षायोपशमिक †ज्ञान के चार भेद हैं।

दिग्व्रतादि सप्तशीलों को मिलानेसे श्रावकों के बारहव्रत हो जाते हैं। इन्हीं पांच पापों के सर्वथा त्याग को 'महाव्रत' कहते हैं। और वह मुनियों के ही होता है।

* जो जीवके ज्ञानादिक अनुजीवी गुणों को घाते, उसे 'घातिया' कर्म कहते हैं।

‡जो जीव के ज्ञानादिक अनुजीवी गुणों को न घाते, उसे 'अघातिया' कर्म कहते हैं।

§ णाणावरण चउक्कं ति दंशण सम्मगंच संजलणं।
णव णो कसाय विग्घं छब्बीसा देश घादीओ ॥४०॥ गो० सा० ॥

† इन चारों ही ज्ञानों का वर्णन पहले अध्याय में विस्तार से लिख आये हैं।

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान के साथ में मिथ्यात्व कर्म का उदय रहने से इन तीन ज्ञानों को क्रम से कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान, कुअवधिज्ञान, (विभंगावधिज्ञान) ये तीन प्रकार का अज्ञान होता है। इन तीन अज्ञानों को भी क्षायोपशमिक ही समझना चाहिये।

वीर्यान्तराय और चक्षुर्दर्शनावरण, अचक्षुर्दर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण, कर्मों के सर्वघाती स्पर्द्धकों के उदयाभावी क्षय होने पर और उन्हीं का सत्ता में उपशम रहने पर, तथा देशघाती स्पर्द्धकों के उदय रहने पर क्रम से चक्षुर्दर्शन अचक्षुर्दर्शन, और अवधिदर्शन प्रगट होते है, इस प्रकार क्षायोपशमिक दर्शन के तीन भेद हैं। इनका स्वरूप इस प्रकार है—

१–नेत्र जन्य मतिज्ञान से पहले सामान्य प्रतिभास या अवलोकन को "चक्षुदर्शन" कहते हैं। २–चक्षु (नेत्र) के सिवाय अन्य इन्द्रियों और मन सम्बन्धी मतिज्ञान से पहले होने वाले सामान्य अवलोकन को 'अचक्षुदर्शन' कहते हैं। ६—अवधिज्ञान से पहले होने वाले सामान्य अवलोकन को 'अवधिदर्शन' कहते हैं। इन तीन प्रकार के दर्शनों में 'केवल दर्शन' का ग्रहण इस लिये नहीं किया है, कि वह 'क्षायिक' है, और उपर्युक्त तीन प्रकार के दर्शन क्षायोपशमिक हैं। केवल दर्शन को ऊपर क्षायिक भावों में दिखला चुके हैं। केवल दर्शन केवलज्ञान के साथ ही प्रगट होता है। उस में समय भेद नहीं होता है।

दान, लाभ, भोग, उपभोग, तथा वीर्य के भेद से पांच प्रकार की लब्धियां होती हैं। ये पांचों ही लब्धियां दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय, और वीर्यान्तराय नाम के कर्मों के सर्वघाती स्पर्द्धकों के उदयाभावी क्षय रहने पर और उन्हीं का सत्ता में उपशम रहने पर एवं देशघाती स्पर्द्धकों के उदय रहने पर

क्रमशः दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य ये पांच लब्धियां उत्पन्न होती हैं। 'लब्धि' का अर्थ प्राप्ति है। इन पांच बातों के प्राप्त होने योग्य, कर्मों के क्षयोपशम होने से इनकी प्राप्ति होती है।

ऊपर 'सूत्र' में 'सम्यक्त्व' पद दिया गया है। उससे यहां पर वेदक अर्थात् क्षायोपशमिक सम्यक्त्व को ग्रहण करना चाहिये। चार अनन्तानुबन्धी कषाय, मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व, इन सर्वघाती छह प्रकृतियों के उदयाभावी क्षय (बिना ही रस दिये कर्मों का खिरजाना) और उन्हीं का सत्ता में उपशम रहने पर, तथा देशघाती सम्यक्त्व प्रकृति के उदय रहने पर, जो 'तत्वार्थ श्रद्धान' होता है, वह 'क्षायोपशमिक सम्यक्त्व' कहलाता है। यह सम्यक्त्व अधिक से अधिक छयासठ सागर तक आत्मा में रह सकता है। इसका विशेष वर्णन पहले अध्याय में सम्यग्दर्शन के प्रकरण में कर चुके हैं।

अनन्तानुबन्धी की चार, अप्रत्याख्यान की चार, और प्रत्याख्यान कषाय की चार, इन बारह कषाय रूप सर्वघाती स्पर्द्धकों के उदयाभावी क्षय से, और इन्हीं का सत्ता में उपशम होने पर, तथा देशघाती संज्वलन कषाय की चार प्रकृतियों में से किसी एक के उदय रहने पर, और हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद, इन नो कषायों के यथा संभव उदय रहने पर, आत्मा का जो त्याग रूप परिणाम है, उस को 'क्षायोपशमिक चारित्र' कहते हैं। यहां पर संज्वलन कषाय आदि का जितने अंशों में उदय है, उतने अंशों में चारित्र गुण का घात ही समझना चाहिये, परन्तु इस चारित्र को पूर्ण चारित्र नहीं कहा जासकता है, किन्तु जो चारित्र के घातक कर्म हैं, उनका उपशम रहना आवश्यक होता है।

अनन्तानुबन्धी की चार और अप्रत्याख्यान की चार इन आठ कषाय प्रकृति सम्बन्धी सर्वघाती स्पर्द्धकों के उदयाभावी क्षय तथा उन्हीं का सत्ता में उपशम रहने पर, तथा प्रत्याख्यान और देश-घाती संज्वलन कषायरूप स्पर्द्धकों के उदय रहने पर, एवं नव नो कषायों के यथासंभव उदय आने पर, आत्मा का कुछ विरत और कुछ अविरत अर्थात् मिश्र रूप जो परिणाम है, वह 'संयमासंयम' नाम का क्षायोपशमिक भाव है। इसको देशविरत (श्रावक सम्बन्धी व्रत) भी कहते हैं। इस में त्रस जीवों की संकल्प पूर्वक हिंसा की अपेक्षा 'संयम भाव' और स्थावर जीवों की हिंसा की अपेक्षा 'असंयम भाव' भी रहता है। दोनों को मिला देने पर इस को 'संयमासंयम' कह दिया जाता है।

अब क्रमानुसार औदयिक भाव के इक्कीस भेदों को बताने के लिये सूत्र कहते हैं—

गति कषाय लिंग मिथ्यादर्शना ज्ञानासंयता सिद्ध लेश्याश्चतुश्चतु स्त्र्ये कैकैक षड्भेदा ः ॥ ६ ॥

सूत्रार्थः—मनुष्य गति, देवगति, तिर्यंच गति, और नरकगति, ये चार गति, क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय, स्त्री वेद, पुरुषवेद, और नपुंसक वेद ये तीन वेद (लिंग) मिथ्यादर्शन, अज्ञान, असंयम, असिद्धत्व, तथा पीत, पद्म, शुक्ल, कृष्ण, नील, और कापोत ये छह लेश्या, इस प्रकार कुल मिलाकर इक्कीस भेद औदयिक भाव के हैं ॥ ६ ॥

विशेषार्थः—जो भाव कर्म के उदय से होते हैं, उनको 'औदयिक भाव' कहते हैं। जिस कर्म के उदय से जीव नारकी, देव, मनुष्य और तिर्यंच होता है उसको 'गति' नाम कर्म कहते हैं। उसके

नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति, और देवगति, ये चार भेद हैं 'गति' सामान्य नाम कर्म के उदय से आत्मा भिन्न भिन्न गति स्वरूप परिणत होता है, इसलिये गति 'औदयिक भाव' कहा जाता है। यहां पर गति की अपेक्षा भावों को जो औदयिक भाव माना है, उसका भाव यह है, कि प्रत्येक गति सम्बन्धी पृथक् २ भाव होते हैं, उसको दिखाने के लिये यहां पर गति को औदयिक भावों में ग्रहण किया है। चारों गतियों का वर्णन इस प्रकार है-

जीव की अवस्था विशेष को 'गति' कहते हैं, उसके उपर्युक्त चार भेद हैं—१ नरकगति नाम कर्म के उदय होने पर नरक में जन्म लेने को 'नरकगति' कहते हैं। इस पृथ्वी के नीचे सात नरक हैं, उन नरकों में उत्पन्न होने वालों को रात दिन अत्यन्त दुःख सहना पड़ता है। पापों के तीव्र उदय से यह जीव नरक गति में उत्पन्न होता है, नारकियोंको एक समय मात्र भी सुख नहीं मिलता इस गति के जीव पांच इन्द्रिय वाले ही होते हैं। २—देव गति नाम कर्म के उदय से यह जीव देवों में उत्पन्न होता है, इस को 'देवगति' कहते हैं। देव चार प्रकार के होते हैं, भवनवासी, व्य-न्तर, ज्योतिषी, और कल्पवासी। इन देवों को उत्तमोत्तम संसार की सुख सामग्री प्राप्त होती है, और वे रात दिन सुखमें मग्न रहते हैं। इस गति के जीव भी पांच इन्द्रिय वाले होते हैं। नरकगति का विशेष वर्णन तीसरे अध्याय में, और देवगतिका चौथे अध्या-य में विस्तार से किया गया है। यहां पर तो संक्षेप मात्र वर्णन कर दिया गया है। ३-मनुष्यगति नाम कर्म के उदय से मनुष्यों (आदमियों) में जन्म लेने को 'मनुष्यगति' कहते हैं। इस गति में न तो अधिक दुःख है, और न अधिक सुख ही है। मनुष्यों का निवास मध्यलोक में होता है। इस गति की सारी बातें हमारे

सामने ही हैं। इस गतिके जीव भी पांच इन्द्रिय वाले ही होते हैं। ३-तिर्यंच गति नाम कर्म के उदय से तिर्यंचों में जन्म लेने को 'तिर्यंचगति' कहते हैं। इस गति में उत्पन्न होने वाले जीवों को सुख कम और दुःख अधिक होता है। और सूक्ष्म तिर्यंच (बारीक) सर्वत्र तीनों लोकों में भरे हुये हैं। इस गति में एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय पर्यन्त सभी प्रकार के पशु आदि को समझना चाहिये। अर्थात् मनुष्य, नारकी और देवों के अतिरिक्त जितने शेष जीव हैं, वे सब तिर्यंचगति में समझना चाहिये। इस गति के जीवों के यथासंभव पांचों ही इन्द्रियां होती हैं।

आत्मा को जो कषे अर्थात् आत्मा के गुणों का घात करे, और विपरीत परिणमन करावे, उसको 'कषाय' कहते हैं। उसके क्रोध, मान, माया, और लोभ ये चार भेद हैं। तथा उनकी अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन ये चार जातियां होती हैं ये कषाय भी चारित्र मोह कर्म के उदय से होता है, अतएव यह भी औदयिक भाव है। चारित्र मोह के पच्चीस भेद हैं,—अनन्तानुबन्धी आदि उपर्युक्त चार प्रकार के कषाय होते हैं, और उनके प्रत्येक के क्रोध, मान, माया, लोभ, के भेद से चार२ भेद हैं। इस प्रकार चारों के सोलह भेद हुये, और हास्यादिक नव नो कषाय हैं, इस तरह कुल भेदों को मिलाने से पच्चीस भेद होजाते हैं। जो कषाय आत्मा के सम्यक्त्व और स्वरूपाचरण चारित्र का घात करे तथा अनन्त जो संसार, उसका कारण हो, उसको 'अनन्तानुबन्धी कषाय' कहते हैं। और जिसके उदय से थोड़ा व्रत अर्थात् श्रावक का व्रत भी न ग्रहण कर सके, उसको 'अप्रत्याख्यान कषाय' कहते हैं। 'अ' का अर्थ इषत् अर्थात् थोड़ा, 'प्रत्याख्यान' त्याग को कहते हैं, इस प्रकार जो थोड़ा भी त्याग न होने दे, जिस के

उदय से प्रत्याख्यान अर्थात् सर्वथा (पूर्ण) त्याग न हो सके, उस को 'प्रत्याख्यान कषाय' कहते हैं। जिस के उदय से कषाय अंश से मिला हुआ संयम रहे, अर्थात् कषाय रहित वीतराग भावों से परिपूर्ण निर्मल यथाख्यात चारित्र न होने दे, उसको 'संज्वलन कषाय' कहते हैं।

वेद नाम कर्म के उदय से, जो अब्रह्मरूप परिणाम हों उसको 'वेद' कहते हैं। वह तीन प्रकार का होता है—जिसके उदय से स्त्री को पुरुष के साथ रमण करने की इच्छा हो वह 'स्त्रीवेद' है। और जिस कर्म के उदय से पुरुष को स्त्री के साथ रमण करने की अभिलाषा हो, उसको 'पुरुष वेद' कहते हैं। तथा जिस कर्म के उदय होने पर स्त्री और पुरुष दोनों के साथ रमण करने की इच्छा हो, उसको 'नपुंसक वेद' समझना चाहिये। ये तीनों ही वेद द्रव्य और भाव के भेद से दो २ प्रकार के होते हैं, 'वेद' का दूसरा नाम 'लिंग' भी है। वेद नाम कर्म के उदय से होने वाले वाह्य शारीरिक रचना विशेष को 'द्रव्य वेद' (लिंग) कहते हैं। परन्तु यहां पर द्रव्यलिंग का ग्रहण नहीं किया है, किन्तु भाव लिंग का ग्रहण है। क्योंकि यहां पर भावों का प्रकरण चल रहा है। वह भाव लिंग, स्त्री, पुरुष, और नपुंसक तीनों की आपस में रमण करने की इच्छा रूप परिणाम है। उसको 'भाव वेद' भी कहते हैं। यह भाववेद नोकषाय रूप चारित्र मोह के और स्त्री पुरुष और नपुंसक वेद के उदय से उत्पन्न होता है। अतएव भाव वेद (भावलिंग) औदयिक भाव है।

जीवादिक पदार्थों का श्रद्धान करना आत्मा का स्वभाव है। और उस स्वभाव का घातक दर्शन मोह कर्म है। आत्मा के गुणों का विपरीत परिणमन इसी दर्शन मोह कर्म के निमित्त से

ही होता है। बाकी समस्त कर्म आत्मीय गुणों का विपरीत परिणमन नहीं करते, किन्तु उनको ढकलेते हैं। मोहनीय कर्म में सब कर्मों से यही विचित्रता और कठोरता है, कि वह अपने प्रतिपक्षी गुणोंको तथा उनसे सम्बन्ध रखनेवाले अन्य गुणोंको भी विपरीत स्वादु बना देता है। इसी दर्शन मोह के उदय से जीवादिक पदार्थों का वास्तविक रूप से श्रद्धान का न होना 'मिथ्यादर्शन' नाम का औदयिक भाव है। जीव का सब से अधिक अकल्याण करने वाला यही भाव है।

ज्ञानावरण कर्म के उदय से आत्मा का जो ज्ञान गुणका प्रगट न होना, अर्थात् अज्ञान बना रहना, उसको 'अज्ञान' औदयिक भाव कहते हैं। यह अज्ञान भाव संसार के सभी प्राणियों के अपेक्षा कृत और क्षयोपशम की अपेक्षा रहता है। अर्थात् जबतक केवलज्ञान उत्पन्न न हो, तब तक सभी जीवोंके थोड़ा बहुत ज्ञानावरण कर्म का उदय बना रहने से, सभी छद्मस्थ जीवों के यह अज्ञान भाव पाया जाता है। सिर्फ केवली भगवान् ही इस अज्ञान भाव से रहित हैं।

चारित्र मोह के उदय से 'असंयत' नाम का औदयिक भाव होता है। इसके उदय होने पर जीवों के घात में और इन्द्रियों के विषयों में सदा राग और द्वेष बना रहता है। यह असंयत भाव भी जब तक महाव्रतकी अथवा यथाख्यात चारित्र की प्राप्ति न हो, तब तक सभी जीवों के थोड़ा बहुत होता ही है। अर्थात् जब तक चारित्र मोह का पूर्णतया नाश न हो, तब तक उसका (चारित्र मोह का) थोड़ा बहुत उदय रहने से उतने अंशों में असंयत भाव भी रहता है। परन्तु जितना यह असंयत भाव दूर किया जा सके, उसके लिये प्रत्येक प्राणी को उद्योग करना चाहिये। बिना

इस भाव के दूर किये आत्मा से कर्मों का सम्बन्ध दूर नहीं किया जासकता है। इन्द्रिय विषयों और हिंसादि पापों से अपनी आत्मा को यथासाध्य अलग रखने की पूरी कोशिश करना चाहिये। ये इन्द्रियों के विषय आत्मीय गुणों के विकाश होने में वाधक होते हैं। अतएव इनमें आसक्त नहीं होना योग्य है। चूंकि यह भाव चारित्र मोह के उदय से होता है, इसलिये इसको 'औदयिक भाव' कहा गया है।

अनादि काल से सामान्यतया समस्त कर्मों के उदय रहने पर 'असिद्धत्व पर्याय' होती है। प्रथम गुणस्थानसे लेकर दसवें गुण-स्थान तक जीवों के आठों कर्मों के उदयसे, और ग्यारहवें, बारहवें इन दो गुणस्थानों में मोहनीय के अतिरिक्त सात कर्मों के उदय से, एवं तेरहवें, चौदहवें इन दो गुणस्थानों में चार अघातिया कर्मों के उदय से 'असिद्धत्व भाव' होता है। इस प्रकार कर्म सामान्य के उदय से 'असिद्धत्व भाव' औदयिक है।

क्रोधादि कषायोंके उदय से रंगी हुई जो मन,वचन, काय, की प्रवृत्ति है, उसका नाम 'लेश्या' है। वह लेश्या द्रव्य और भाव के भेदसे दो प्रकार की होती है। शरीरके वर्ण (रंग) को 'द्रव्यलेश्या' कहते हैं। और अन्तरंग परिणाम विशेषों को 'भाव लेश्या' समझना चाहिये। चूंकि यहां पर भावों का प्रकरण चल रहा है, अतएव 'लेश्या' शब्द से भाव लेश्या का ही ग्रहण किया गया है। भाव लेश्या भो शुभ और अशुभ के भेद से दो प्रकार की होती है। कृष्ण, नील, कापोत, इन तीन लेश्याओं को 'अशुभ' और पीत, पद्म, शुक्ल, लेश्याओं को 'शुभ' लेश्या कहते हैं। चतुर्थ गुण-स्थान तक छहों लेश्या होती हैं। पांचवें, छटवें, सातवें, इन तीन गुणस्थानों में तीन शुभ लेश्या होती हैं। आठवें से लेकर तेरहवें

गुणस्थान तक एक मात्र शुक्ल लेश्या होती है। और अयोग केवली गुणस्थान लेश्या‡ रहित है। जीव जिस लेश्या के योग्य द्रव्य कर्म का ग्रहण करता है, उसके निमित्त से उसी लेश्या रूप परिणाम हो जाते हैं। (लेश्याओं के विषय में एक चित्र भी तैयार हो गया है, उस चित्र पर से लेश्याओं के भावों का तारतम्य स्पष्ट होजाता है) यद्यपि ग्यारहवें से तेरहवें गुणस्थान तक होने वाली योगों की प्रवृत्ति कषायों से अनुरंजित (रंगी हुई) नहीं है, परन्तु पहले योगों की प्रवृत्ति कषायों से अनुरंजित थी, वह अब भी है, ऐसा उपचार से मान कर "पूर्व भाव प्रज्ञापन नयकी अपेक्षा" से लेश्या का होना सिद्ध किया है। जैसे कसूम से रंगा हुआ कपड़ा धोने पर भी कसम्मल कहलाता हैं। "कषायोदय रंजिता योग प्रवृत्ति लेश्या" अर्थात् कषाय और योग इन दोनों के जोड़ को 'लेश्या' कहते हैं। इसी लिये लेश्या का कार्य चार तरह का बन्ध होना बताया है। क्योंकि चार प्रकार के बन्ध में से प्रकृति और प्रदेश बन्ध तो योग के द्वारा होते हैं, स्थिति और अनुभाग बन्ध कषाय के निमित्त से होते हैं। जहां पर कषाय का उदय नहीं होता वहां पर केवल उपचार से योग को लेश्या कहते हैं। ऐसी अवस्था में वहां पर सिर्फ प्रकृति और प्रदेश बन्ध ही होते हैं। स्थिति अनुभाग बन्ध नहीं होते। अब छः प्रकार की लेश्याओं का लक्षण पूर्वक पृथक् २ कथन कहते हैं—

१—जो तीव्र क्रोध करने वाला हो, वैर को न छोड़े, लड़ने का जिसका स्वभाव हो, धर्म और दया से रहित हो, दुष्ट हो और

---

‡ अयदोत्ति छ लेस्साओ सुहतिय लेस्साहु देसविरद ति ये।
तत्तो सुक्का लेस्सा अजोगी ठाणं अलेस्सं तु। गो० सा०।

मत्सर हो, ये सब 'कृष्ण लेश्या' ‡ वाले के चिन्ह हैं।

२—काम करने में आलसी और मन्द बुद्धि हो, स्वच्छंद और विवेक रहित हो, स्त्री में आसक्त हो, प्रपंच करने वाला हो, डरपोक और निरन्तर मान में रहनेवाला हो, उसको 'नील लेश्या'† वाला समझना चाहिये।

३—दूसरों के ऊपर क्रोध करना, अपनी प्रशंसा और दूसरे की निन्दा करना, दूसरों से बैर रखना, शोकाकुलित, तथा भयभीत रहना, दूसरों पर विश्वास न करना, लड़ाई में मृत्युतुल्य भी न डरना, अपनी हानि वृद्धि को न देखना, इत्यादि लक्षण 'कापोत लेश्या'§ वाले के हैं।

४—जो बुद्धिमान् हो, तथा दयालु हो, कार्य अकार्य और हयोपादेय का विचार करने वाला हो, लाभ अलाभ समभाव रखता हो, दया दान में तत्पर रहता हो, समदर्शी और कोमल परिणामी हो, ये 'पीत लेश्या'* के चिन्ह समझना चाहिये।

५—दान देने वाला और भद्र परिणामी हो, शीलवान हो, इष्ट अनिष्ट उपद्रवों को सहन करने वाला हो, देवपूजन में तत्पर रहता है, स्वाध्याय का अभ्यासी हो, परोपकारी हो, हिंसादि पापों

---

‡ आर्त रौद्र सदा क्रोधी मत्सरी धर्म वर्जितः।
निर्दयो वैर संयुक्तो कृष्णलेश्याधिको नरः ॥१॥

† आलस्यो मन्द बुद्धिश्च स्त्री लुब्धश्च प्रपंचकः।
कातरश्च सदामानी नील लेश्याधिकोनरः ॥

§ शोकाकुलो.सदारुष्टः परनिंदा प्रशंसकः।
संग्रामे प्राथ्यंते मृत्युं कापोतोय मुदिरते ॥

* प्रबुद्धः करुणा युक्तो कार्याकार्यं विचारकः।
लाभालाभे सदा प्रीतिः पीत लेश्याधिकोनरः ॥

का त्यागी हो, इत्यादि लक्षण ‡ 'पद्म लेश्या' वाले के हैं।

६—जो राग द्वेष रहित वीतरागी हो, शोक और निन्दा से रहित हो, पक्षपात से रहित, और सब जीवों में समदर्शी हो, अपने समान सब प्राणियों को समझता हो स्त्री, पुत्र, मित्र, आदि में स्नेह रहित हो, इत्यादि चिन्ह 'शुक्ल लेश्या'§ वाले के हैं।

भाव की अपेक्षा छहों लेश्या औदायिक हैं, क्योंकि योग और कषाय के संयोग से इन लेश्याओं की उत्पत्ति होती है, और ये दोनों (योग और कषाय) अपने२ योग्य कर्म के उदय से होते हैं। आदि की तीन अशुभ लेश्याओं से यह जीव नरक या तिर्यंच गति में उत्पन्न होता है, और अंतकी तीन शुभ लश्याओंसे मनुष्य गति, देव गति, तथा शुक्ल लेश्या से निर्वाण की भी प्राप्ति होती है।

अब क्रमानुसार पारिणामिक भावों के भेदों को बताने के लिये सूत्र कहते हैं—

जीव भव्या भव्यत्वानि च ॥७॥

सूत्रार्थ:—(च) और (जीव भव्या भव्यत्वानि) जीवत्व, भव्यत्व, और अभव्यत्व ये तीन (अन्य द्रव्य से असाधारण) जीव के पारिणामिक भाव के भेद हैं।

विशेषार्थ:—जिन भावों की उत्पत्ति में कर्मों का उदय, क्षय, उपशम, और क्षयोपशम, कारण नहीं होता, उन भावों को 'पारिणामिक' भाव कहते हैं। उपर्युक्त तीनों ही भावों में कर्मों की कुछ

‡ दया शीलो सदात्यागी देवार्चन तत्परः।
शुचिरभूतो सदानंदो पद्मलेश्याधिकोनरः॥

§ रागद्वेष विनिर्मुक्तो शोक निंदा विवर्जितः।
परात्म भाव संपन्न शुक्ल लेश्याधिकोकनरः॥

भी अपेक्षा नहीं है, किन्तु ये जीव के स्वरूप मात्र हैं। अर्थात् अनादि काल से इन भावों का आत्मा के साथ 'स्वरूप सम्बन्ध चला आ रहा है, इसलिये जीव के गुण स्वरूप होने के कारण उल्लिखित जीवत्व आदिक 'पारिणामिक भाव' हैं। इन तीन भावों के ‡अतिरिक्त अस्तित्व (जिस शक्ति के निमित्त से द्रव्यका कभी नाश न हो वह 'अस्तित्व' गुण है) वस्तुत्व (जिस शक्ति के निमित्त से द्रव्य में अर्थ क्रिया हो, वह 'वस्तुत्व' गुण है, जैसे घट को अर्थ क्रिया जल धारण है) द्रव्यत्व (जिस शक्ति के निमित्त से द्रव्य सर्वदा एकसा न रहे, और जिसकी पर्यायें सदा पलटती रहें, वह 'द्रव्यत्व' गुण है) प्रमेयत्व (जिस शक्तिके निमित्त से द्रव्य किसीन किसी के ज्ञान का विषय हो, वह 'प्रमेयत्व' गुण है) आदि और भी अनेक जीव के अनादि पारिणामिक भाव हैं, और उनको सूत्र में 'च' शब्द से ग्रहण भी किया है, परन्तु ये जीव के असाधारण भाव नहीं हैं, क्योंकि ये जीव के अतिरिक्त अन्य धर्मादिक अचेतन द्रव्यों में भी पाये जाते हैं। जो सिर्फ जीव में ही पाये जाते हैं, अन्य अचेतन द्रव्यों में नहीं होते, ऐसे विशेष भाव उपर्युक्त तीन ही 'पारिणामिक भाव' हैं और इसी लिये उन का खास तौर पर नाम उल्लेख करके कथन किया गया है। इनका नीचे विशेष कथन करते हैं—

जो वर्तमान में जीता है, भूतकाल में जिया और भविष्यत् काल में जीवेगा, इस प्रकार अनादि काल से चैतन्य गुण का जीव केसाथ स्वरूप सम्बन्ध है, ऐसे असंख्यात प्रदेशी चैतन्यता को 'जीवत्व' कहते हैं। इस चेतना में कर्म की कुछ भी अपेक्षा नहीं

---

‡आस्तित्वं, वस्तुत्वं, द्रव्यत्वं, प्रमेयत्वमगुरुलघुत्वं नित्यत्वं प्रदेशित्वं मूर्तत्वममूर्तत्वं चेतनत्वमचेतनत्वं चेते दश भावाः। स० ति०

है, वह जीव का स्वभाव मात्र है, अतएव यह 'पारिणामिक भाव' है। "सम्यग्दर्शनादि भावेन भविष्यतीति भव्य" जो आत्मा आगामी काल में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यग्चारित्र, रूप परिणत होने वाला है, वह 'भव्य' है, यह भव्यत्व गुण भी पारिणामिक भाव है। जो इसके विरुद्ध हैं, अर्थात् जो आगामी काल में सम्यग्दर्शनादि रूप परिणमन न करेंगे, उनको 'अभव्य' समझना चाहिये, ये गुण भी पारिणामिक हैं। ये तीनों ही शक्तिरूप होने के कारण पारिणामिक माने गये हैं। इन तीनों ही में कर्मों की कुछ भी अपेक्षा नहीं है, अतएव ये भी नष्ट नहीं होते हैं। यहां पर यह बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिये, कि भव्यत्व और अभव्यत्व को व्यवहार नय से पारिणामिक माना गया है, यह आत्मा का स्वभाव नहीं है, क्योंकि सिद्धों के भव्यत्व भाव का नाश हो जाता है। भव्य के भी निकट भव्य और दूर भव्य के भेद से दो भेद किये गये हैं—

भव्यों में भी बहुत से जीव ऐसे माने गये हैं, जिन्हें अनन्त काल में भी मोक्ष प्राप्त नहीं होगी। और साथ ही अभव्यों की भी तारीफ़ यही है, कि जिन्हें अनन्त काल में भी मोक्ष प्राप्त न हो सके। फिर भी दोनों में भेद अवश्य है। और वह यह है—

कनक पाषाण एक प्रकार का पत्थर होता है, जो कालान्तर में योग्य कारण कलाप के मिल जाने पर सुवर्ण स्वरूप परिणत हो जाता है। किन्तु जो कनक पाषाण अनन्त काल के बाद भी सुवर्ण स्वरूप परिणत नहीं होगा, उसको भी जिस प्रकार कनक पाषाण ही माना और कहा जाता है, क्योंकि उस में सुवर्ण स्वरूप परिणत होने की शक्ति है, और योग्य कारण कलाप के मिल जाने पर वह नियम से एक दिन सुवर्ण स्वरूप अवश्य परिणत होगा।

किन्तु अन्ध पाषाण, जिसमें कि कभी सुवर्ण स्वरूप परिणत होने की शक्ति ही नहीं है, वह सुवर्ण पाषाण (कनक पाषाण) नहीं माना जासकता है। उसी प्रकार जिस भव्य को अनन्त काल के बाद भी मोक्ष प्राप्त नहीं होगी, वह भी भव्य ही है, क्योंकि उस में मोक्ष प्राप्त करने की शक्ति विद्यमान§ है, और योग्य कारण कलाप के मिल जाने पर अवश्य ही मोक्ष प्राप्त होसकती है। सारांशतः जो जीव अनंत काल के बाद भी सिद्ध पद प्राप्त न कर सके, किन्तु उसके अन्दर मोक्ष प्राप्त करने की सामर्थ्य हो, और योग्य कारण कलाप से, उस सामर्थ्य के प्रगट होजाने की, जिस में योग्यता हो, वह भव्य ही है। किन्तु जिस के अन्दर मोक्ष प्राप्त करने की शक्ति

---

§ इस विषय में स्त्री का उदाहरण भी अच्छी तरह घटाया जासकता है। स्त्रियां तीन प्रकार की होती हैं, सधवा, विधवा, और वन्ध्या। जीव भी भव्य, अभव्य, और दूरभव्य तीन प्रकार के माने गये हैं। सधवा स्त्री को भव्य के समान, वन्ध्या को अभव्य के समान समझना चाहिये। विधवा स्त्री जिस के कि पुत्रोत्पन्न करने की शक्ति मौजूद है, किन्तु पुरुष का संयोग न मिलने के कारण उसकी वह प्रसव शक्ति व्यक्त नहीं होती है। यदि उसकी वह शक्ति कभी भी व्यक्त न हो तो उसको वन्ध्या नहीं कहा जा-सकता। इस प्रकार ऐसी विधवा स्त्री प्रसव शक्ति के होने की अपेक्षा सधवा के समान और वह शक्ति कभी भी व्यक्त नहीं होती, इस अपेक्षा वन्ध्या के समान है। उसकी मिश्र अवस्था है। इसी प्रकार दूरभव्य भी भव्यत्व शक्ति के विद्यमान रहने की अपेक्षा भव्य और शक्ति के अनन्त काल में भी प्रगट न होने की अपेक्षा अभव्य के समान है। इस तरह इस को भव्याभव्य समझना चाहिये। विधवा के समान दूरभव्य में भी शक्ति मौजूद है, परन्तु योग्य कारण कलाप न मिलने से वह शक्ति प्रगट नहीं होती है। शक्ति की अपेक्षा भव्य और दूरभव्य में कोई अन्तर नहीं है।

ही न हो, मोक्ष प्राप्ति के योग्य कारण कलापके मिलने पर भी जो कभी गुणों के प्रगट करने की योग्यता नहीं रखता हो, वह अभव्य ही है। काल की किसी अपेक्षा समानता मिल भी जाय, तो भी भव्य, अभव्य नहीं कहा जासकता है।

अभव्य जीव अनादि काल से सदा अशुद्ध रहता है। और अनन्त काल तक सदा वैसा ही रहेगा। अभव्य जीव का कर्म-सम्बन्ध न तो कभी टूटा, और न कभी टूट ही सकता है। अभव्यत्व गुण के निमित्त से उस आत्मा का परिणाम सदा ऐसा ही रहता है, कि जो संक्लेश भाव को दूर कर सम्यक्त्व प्राप्ति के योग्य होता ही नहीं। अभव्य की आत्मा में सम्यक्त्व प्राप्ति का बाधक कारण 'अभव्यत्व' गुण है। जो कि आत्मा में प्रथम गुणस्थान मिथ्यात्व के सिवाय, दूसरे गुणस्थान के योग्य परिणाम ही नहीं होने देता है। गुणों का कार्य वस्तु स्वभाव है। कोई भी शक्ति उस में कभी परिवर्तन नहीं कर सकती है। जैसे जीव पुद्गल में वैभाविकी शक्ति कारण होने से ही उन दोनों में विभाव रूप परिणमन होता है, यदि आत्माकी उपादान शक्ति (वैभाविक शक्ति) कारण न हो तो कितने ही वाह्य निमित क्यों न मिलते, आत्मा कभी अशुद्ध नहीं हो सकता था, और न पुद्गल ही अशुद्ध होता। जिन, धर्म, अधर्म, आकाश, काल, इन चारों द्रव्यों में वैभाविक शक्ति उपादान कारण न होने से कभी कोई विभाव परिणाम नहीं होता, इसलिये बिना उपादान शक्ति के वाह्य निमित कुछ नहीं कर सकते। और जिस प्रकार एक विभाव शक्ति ने जीव और पुद्गल में अशुद्धता उत्पन्न कर दी है, उसी प्रकार अभव्यत्व शक्ति आत्मा को कभी शुद्ध न होने दे, तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। क्योंकि भिन्न २ शक्तियों के भिन्न २ कार्य होते हैं।

जिस शक्ति का जो कार्य है, वह अनिवार है। इसलिये अभव्य आत्मा कभी शुद्ध नहीं होसकता है। भव्यत्व और अभव्यत्व गुण के निमित से ही आत्माओं में इतना बड़ा अन्तर होगया, कि भव्य शुद्ध होजाता है, अभव्य शुद्ध नहीं होता। बाकी समस्त अनन्त गुण दोनों प्रकार की आत्माओं में समान हैं। अभव्य आत्मा में समस्त शक्तियां भव्य आत्मा के तुल्य हैं, जैसे केवलज्ञानशक्ति, सम्यक्त्वशक्ति, चारित्र शक्ति, ये शक्तियां जैसे भव्यमें रहती हैं, वैसे अभव्य में भी होती है। यदि अभव्य में वैसी शक्तियां नहीं मानी जायं, तो उसके केवलाज्ञानावरण, दर्शनमोह, और चारित्र मोह कर्मों का उदय भी नहीं बनेगा। उन कर्मों का उदय उन शक्तियों के विकाश को ही रोकने वाला है। इसलिये इन कर्मों के मानने पर आच्छादित शक्तियांभी माननी हीपड़ती हैं। इस प्रकार अभव्य जीव अनादि काल से कर्मों से बद्ध है, और अनन्त काल तक बद्ध ही रहेगा, उसकी कभी कर्मों से मुक्ति नहीं होसकती है।

भव्य जीव भी अनादि काल से कर्मों से बंधा हुवा है। परन्तु काल लब्धि के मिलने पर कर्मों का भार हल्का पड़ जाने पर, भव्यत्व शक्ति का पक परिणमन होने पर, वह सम्यक्त्वादि निज गुणों का विकाश करता है, पीछे आत्मीय विशुद्धता के बढ़ जाने से कर्मों के उदय को अत्यन्त भेद करता हुवा, वही आत्मा अपने वीतराग परिणामों से कर्मों को सर्वथा नष्ट कर सदा के लिये मुक्त हो जाता है। एक बार मुक्त होने पर वह फिर कभी कर्मों से बद्ध नहीं होता है, जैसा कि कहा है—

> दग्धे वीजे यथात्यन्तं प्रादुर्भवति नांकुरः।
> कर्म वीजे तथा दग्धे न रोहति भवांकरः॥

अब जीव का लक्षण बताने के लिये सूत्र कहते हैं।

उपयोगो लक्षणम् ॥८॥

सूत्रार्थः—जीवका (लक्षणम्) लक्षण (उपयोगः) उपयोग है। उपयोग आत्मा के 'चैतन्य स्वभाव' को कहते हैं।

विशेषार्थः—अंतरंग और वहिरंग दोनों प्रकार के कारणों का यथासंभव सन्निधान रहने पर चैतन्य गुण के साथ २ रहने वाला जो आत्मा का परिणाम है, उसको 'उपयोग'‡ कहते हैं। अर्थात ज्ञान दर्शन की प्रवृत्तिको 'उपयोग' समझना चाहिये। ज्ञान दर्शन रूप उपयोग ही जीव का लक्षण* है। परस्पर मिली हुई वस्तुओं में से जो उन के भेद ज्ञान कराने में कारण है, उसको 'लक्षण' कहते हैं, जैसे अग्नि का लक्षण उष्णपना। इसके दो भेद हैं— आत्मभूत और अनात्मभूत। जो वस्तु के स्वरूप में मिला हो, उसको 'आत्मभूत लक्षण' कहते हैं। जैसे अग्नि का लक्षण उष्णता। जो वस्तु के स्वरूप में मिला न हो, उसको 'अनात्मभूत लक्षण' कहते हैं। जैसे—दंडी पुरुष का लक्षण दंड। जीव का उपयोग लक्षण 'आत्मभूत है। यह लक्षण त्रिकाल अबाधित और निर्दोष है। क्यों कि काई भी ऐसा जीव नहीं है, जिसमें कि ज्ञान दर्शन रूप उपयोग न पाया जावे। कम से कम अक्षर के अनन्तवें भाग प्रमाण तो ज्ञान जीव में रहता ही है। तथा जीव के सिवाय और भी ऐसा कोई दूसरा पदार्थ नहीं है, कि जिसमें ज्ञान दर्शन रूप उपयोग पाया जावे। जीव ज्ञान दर्शन से अभिन्न ज्ञान दर्शन स्वरूप होता है। अतएव उपयोग को आत्मभूत लक्षण मान कर

‡ चैतन्यानुविधायी परिणामः सोपयोगः। रा. वा.

* व्यतिकीर्ण वस्तु व्यावृत्ति हेतुर्लक्षण मुच्यते।

ही उसे जीव का लक्षण मानना निर्दोष है। भिन्न होकर वह आत्मा का लक्षण नहीं कहा जा सकता ।

अब उपयोग के उत्तर भेदों को बताने के लिये सूत्र कहते हैं।

सद्विविधोष्ट चतुर्भेदः ॥६॥

सूत्रार्थः—(सः) वह उपयोग (द्विविधः) मूल भेद से दो प्रकार का होता है पहला ज्ञानोपयोग, और दूसरा दर्शनोपयोग। और फिर वह दो प्रकार का उपयोग क्रम से (अष्ट चतुर्भेदः) आठ और चार प्रकार का होता है ।

विशेषार्थः—साकार (ज्ञानोपयोग) और निराकार (दर्शनोपयोग) के भेद से दो प्रकार का उपयोग होता है। अर्थात् सविकल्प परिणति को 'ज्ञानोपयोग' तथा निर्विकल्प परिणति को 'दर्शनोपयोग' समझना चाहिये। पहले दर्शनोपयोग और फिर ज्ञानोपयोग इस प्रकार क्रम से दोनों की प्रवृति होती है। परन्तु फिर भी दर्शनोपयोग की अपेक्षा ज्ञानोपयोग पूज्य एवं उसका विषय भी अधिक है। इस लिये ऊपर 'सूत्र' में दर्शनोपयोग से पहले ज्ञानोपयोग को ग्रहण किया है। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यय ज्ञान, और केवलज्ञान, ये पांच सम्यज्ञान, तथा कुमतिज्ञान, कुश्रुत ज्ञान और कुअवधिज्ञान, ये तीन कुज्ञान, इस प्रकार दोनों मिला कर ज्ञानोपयोग के कुल आठ भेद हैं। इन का वर्णन पहले अध्याय में विस्तार पूर्वक किया जा चुका है। चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधि दर्शन, और केवल दर्शन, ये चार प्रकार दर्शनोपयोग के समझना चाहिये। इनका वर्णन पीछे इसी अध्यायमें लिख आये हैं। जो पुरुष अल्पज्ञ हैं, उनके पहले दर्शन, पीछे ज्ञान होता है। और केवली भगवान् के उन दोनों (ज्ञान,

दर्शन)का एकसाथ होना माना §गया है। क्योंकि जो ज्ञान इन्द्रिय और मन पूर्वक होता है, वह क्रमसे ही होता है। किन्तु अतीन्द्रिय (इन्द्रिय मन से रहित) ज्ञान युगपत् होता है। इसलिये संसारी जीवों का ज्ञान क्रम से होता है। केवली भगवान् के युगपत् होता है, क्योंकि उनका ज्ञान इन्द्रिय और मन से रहित होता है।

अब जीव द्रव्य के भेदों को बताने के लिये सूत्र कहते हैं—

संसारिणो मुक्ताश्च ॥१०॥

सूत्रार्थः—वे जीव (संसारिणः) संसारी (च) और (मुक्ताः) मुक्त अर्थात् सिद्ध ऐसे दो प्रकार के होते हैं। कर्म सहित संसारी और कर्म रहित मुक्त जीव होते हैं। इन दोनों भेदों का खुलासा वर्णन नीचे करते हैं।

विशेषार्थः—जो जीव कर्म सहित हैं, कर्मों की पराधीनता के कारण अनेक जन्म मरणों को करते हुये संसार में परिभ्रमण करते रहते हैं, उनको 'संसारी' कहते हैं। और जो समस्त कर्मों को काटकर मुक्त होगये हैं उनको 'मुक्तजीव' अथवा सिद्ध परमेष्ठी कहते हैं। कर्मों के द्वारा आत्मा का जो एक भव से दूसरे भव में जाना है उसका नाम ‡'संसार' है। अर्थात् संसार नाम †परिभ्रमण का है, वह जिनके पाया जावे। जो चतुर्गति रूप संसार में परिभ्रमण करने वाले हैं, अथवा भ्रमण के कारणभूत कर्मों का जिनके

§ दंसण पुव्वं णाणं छदमत्थाणं ण दोण्णि उव ओगा।
जुगवं जह्मा केवलि णाहे जुगवं तु ते दोवि ॥४॥ द्रव्य संग्रहे।

‡ संसरणं संसारः परिवर्तनमित्यर्थः। स० सि०

† यह परिभ्रमण (परिवर्तन) द्रव्य क्षेत्र, काल, भाव, और भव के भेद से पांच प्रकार का होता है।

सम्बन्ध पाया जावे, उनको 'संसारी जीव' समझना चाहिये। और जो संसारी इस अवस्था से रहित हैं, उनको 'मुक्त' कहते हैं। 'सूत्र'में मुक्त जीवों से पहले संसारी जीवों को ग्रहण करने का कारण यह है, कि उनके भेद भी बहुत हैं, तथा संसारी अनुभव गोचर हैं, और मुक्तजीव इन दोनों बातों से रहित है। दूसरी बात यह है,कि मोक्ष संसार पूर्वक ही हुवा करती है। यदि संसार न होता तो मोक्ष भी न होती। क्योंकि मोक्ष संसारी जीवों की ही होती है। जब वे ही नहीं तो मोक्ष किस की होती, और जब मोक्ष गमन न होता, अथवा मोक्ष का अस्तित्व न होता तो फिर मोक्ष का उपदेश कैसे संभव होता।

जितने जीव व्यवहार राशि से मोक्ष जाते हैं, उतने ही जीव अनादि निगोद की अव्यवहार राशि से निकल कर व्यवहार राशि में आजाते हैं। और यह अव्यवहार राशि (नित्यनिगोद) आदि रहित है, अर्थात् इस में (नित्यनिगोद) जीव जाते नहीं हैं, सिर्फ निकलते ही हैं, फिरभी इसकी जीव संख्या का अनन्त होने से अन्त नहीं होता। इस लिये जीवों के निरन्तर मोक्ष जाते रहने पर भी, यह संसार जीवोंसे कभी खाली नहीं हो सकता, जैनशास्त्रों के अनुसार छः महिने और आठ समय में ६०८ जीव मोक्ष जाते हैं, तथा इतने ही जीव नित्यनिगोद से निकल कर व्यवहार राशि में आजाते हैं, अतएव व्यवहार राशि की संख्या सदैव पूरी रहा करती है।

वनस्पति कायिक जीव व्यवहारिक और अव्यवहारिक के भेद से दो प्रकार के होते हैं। जो जीव निगोद से निकल कर पृथिवी काय आदिक अवस्था को प्राप्त करके फिर से निगोद अवस्था को प्राप्त करते हैं, वे जीव 'व्यवहारिक' कहलाते हैं। तथा जो जीव

अनादि काल से निगोद अवस्था ही में पड़े हुये हैं। उन्हें 'अव्यवहारिक' कहते हैं। जैन सिद्धान्त के अनुसार असंख्यात 'गोल' होते हैं। प्रत्येक गोल में असंख्यात 'निगोद' होते हैं, और एक निगोद में अनन्त जीव होते हैं। अतएव निगोद राशि में से जीवों के निकलते रहने के कारण संसारी जीवों का कभी सर्वथा क्षय नहीं हो सकता। जितने जीव अब तक मोक्ष गये हैं, और आगे जाने वाले हैं, वे सब निगोद जीवोंके अनन्तवें भाग प्रमाण भी नहीं है, न हुये हैं, और न होंगे। इस प्रकार जैन धर्म के अनुसार न तो मुक्त जीव कभी संसार में लौट कर ही आते हैं, और न यह संसार ही जीवों से कभी शून्य होता है। जिस प्रकार बीज के जल जाने पर अकुंर उत्पन्न नहीं हो सकता, उसी प्रकार कर्मों का सर्वथा क्षय होजाने पर जीव संसार में फिर से जन्म नहीं लेता है।

जिन जीवों के एक ही शरीर के आश्रय अनन्तानन्त जीव रहते हों, उसे 'निगोद' कहते हैं। निगोदिया जीवों का आहार और श्वासोश्वास सब का एक साथ ही होता है। तथा एक निगोदिया जीव के मरने पर अनन्त निगोदिया जीवोंका मरण, और एक निगोदिया जीवके उत्पन्न होने पर अनन्त निगोदिया जीवोंकी उत्पत्ति होती है। 'लब्ध्यपर्याप्तक' निगोदिया जीव एक श्वास में अठारह बार जन्म और मरण करते हैं और अति कठोर यातनाको भोगते हैं। ये निगोदिया जीव पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, देव, नारकी, आहारक शरीर, और केवली इन आठ शरीरों को छोड़कर समस्त लोक में भरे हुये हैं। निगोदिया जीवों से तिल में तेल की तरह तीनों लोक पूर्णतया व्याप्त हैं। ये सूक्ष्म और बादर निगोदिया जीव नित्य निगोद और इतर निगोद, के भेद से दो प्रकारके होते

हैं। इन्हीं को ऊपर व्यवहारिक और अव्यवहारिक नाम से उल्लेख किया गया है। जिन जीवों ने अनादि निगोद से निकल कर एक बार भी त्रस पर्याय नहीं पाई, वे 'नित्यनिगोद' और जिन्होंने एक बार या अधिक बार त्रस पर्याय पाकर फिर निगोद में उत्पन्न हुये हों, उनको 'इतर निगोद' समझना चाहिये।

अब संसारी जीवों के उत्तर भेद बताने के लिये सूत्र कहते हैं—

समनस्कामनस्काः ॥११॥

सूत्रार्थः—संसारी जीव समनस्क (मनसहित) और अमनस्क (मनरहित) दो प्रकार के होते हैं। मन सहित को सैनी (संज्ञी) और मन रहित को असैनी (असंज्ञी) कहते हैं। एकेन्द्रिय से लेकर चौइन्द्रिय पर्यन्त सब जीव नियम से असैनी ही होते हैं।

विशेषार्थः—मन के सम्बन्ध और असंबन्ध की अपेक्षा से संसारी जीव दो तरह के होते हैं। द्रव्य मन, और भाव मन, के भेदसे मनके दो भेद होते हैं। मनो वर्गणाओं के द्वारा हृदय स्थान में अष्ट दल कमलके आकारमें बने हुये अन्तःकरण को 'द्रव्यमन' कहते हैं। इसका सम्बन्ध पौद्गलिक शरीर से है, और जीव के उपयोग रूप परिणाम को 'भावमन'§ कहते हैं। इस भावमन का सम्बन्ध आत्मा से है। जो हित में प्रवर्तन और अहित से दूर रहने की शिक्षा ग्रहण करते हैं, उनको 'समनस्क' (सैनी) और जो शिक्षा, क्रिया,उपदेश इत्यादिको ग्रहण नहीं करते, वे'अमनस्क' (असैनी) कहलाते हैं। नारकी, देव, और गर्भज, मनुष्य, तिर्यंच, ये सब समनस्क अर्थात् सैनी, और इनके अतिरिक्त जितने संसारी जीव (स्थावर विकलत्रयादि) हैं, वे सब अमनस्क (असैनी) होतेहैं

§ वीर्यान्तराय नोन्द्रियावरण क्षयोपशमापेक्षया आत्मनो विशुद्धि र्भावमनः।

अब संसारी जीवों के इन्द्रियों की अपेक्षा से भेदों को बताने के लिये सूत्र कहते हैं।

संसारिणस्त्रसस्थावराः ॥१२॥

सूत्रार्थः-(संसारिणः) संसारी जीव (त्रसस्थावराः) त्रस और स्थावर दो प्रकार के हैं। पंच प्रकार के स्थावरों में त्रस को मिला देने से 'छह काय' के जीव कहलाते हैं।

विशेषार्थः—दो इन्द्रिय जीव, तीन इन्द्रिय जीव, चार इन्द्रिय जीव, पांच इन्द्रिय जीव, इन चार तरह के जीवों को 'त्रस' कहते हैं और पंच प्रकार के एकेन्द्रिय जीवों की 'स्थावर' संज्ञा है। त्रस नाम कर्म के उदय से जिन के दुःख सुखादि का अनुभव स्पष्ट रहता है, उनको 'त्रस' कहते हैं। और जिन के स्थावर नाम कर्म के उदय से उनका स्पष्ट अनुभव नहीं होता वे ‡'स्थावर' कहलाते हैं। कोई २ त्रस और स्थावर का अर्थ शब्द-§ निरुक्ति के अनुसार करते हैं, परन्तु वह ठीक नहीं है। क्योंकि शब्द-निरुक्ति के अनुसार अग्नि और वायु कायको भी "त्रस' मानना पड़ेगा। तथा बहुत से दो इन्द्रियादिक जीव भी ऐसे हैं, जो एक ही स्थान पर रहते हैं, उनको स्थावर कहना पड़ेगा, जो कि शास्त्र विरुद्ध होगा। अतः यही लक्षण ठीक है, कि स्थावर नाम कर्म के उदय से स्थावर और त्रस नाम कर्म के उदय से त्रस होते हैं। इसमें कोई दोष नहीं है।

अब स्थावर जीवों के भेदों को बताने के लिये सूत्र कहते हैं-

---

‡ परिस्पष्ट सुख दुःखेच्छा द्वेषादि लिंगास्त्रस नाम कर्मोदयात् त्रसाः। अपरिस्फुट सुखादि लिंगाः स्थावर नाम कर्मोदयात् स्थावराः।

§ त्रस्यन्तीति त्रसाः स्थानशीलाः स्थावराः। "इतिसिद्धसेन गणि टीकायम्'

पृथिव्यप्तेजो वायुवनस्पतयः स्थावराः ॥१३॥

सूत्रार्थः—(पृथिव्यप्तेजो वायु वनस्पतयः) पृथिवी कायिक, अप् कायिक, तेज कायिक, वायु कायिक, और वनस्पति कायिक, ये पांच प्रकार के (स्थावराः) स्थावर जीव होते हैं। इन के एक ही स्पर्शन इन्द्रिय होती है।

विशेषार्थः-पृथिवी ही है काय अर्थात् औदारिक शरीर जिनका, सो 'पृथिवी कायिक' स्थावर जीव हैं। जल ही है काय जिनका, सो 'जल कायिक' जीव हैं। अग्नि ही है काय जिनका, ऐसे 'अग्नि कायिक' जीव हैं। वायु ही है काय जिनका सो 'वायु कायिक' जीव होते हैं। और वनस्पति ही है काय जिनका, ऐसे ''वनस्पति कायिक' जीव होते हैं। इसलिये ये पांचों ही स्थावर जीव, जीव विपाकी स्थावर नाम कर्म के उदय से होते हैं। इनके दश प्राणोंमें से केवल इन्द्रिय प्राण, काय बल प्राण, श्वासोश्वास-प्राण, और आयुःप्राण, ये चार ही प्राण होते हैं। शास्त्रों में पृथिवी काय आदि पांच स्थावरों के प्रत्येक के चार चार भेद माने गये हैं। और वे इस प्रकार हैं—पृथिवी, पृथिवी काय, पृथिवी कायिक, और पृथिवी जीव, ये चार भेद पृथिवी के समझने चाहियें। उनमें पृथिवी ‡ यह एक सामान्यतया नाम है, जिस का सम्बन्ध आगे के तीन भेदों के साथ है, साधारण रूपसे जिसको 'पृथिवी' कहते हैं। अचेतन स्वभाव सिद्ध परिणाम से युक्त होने के कारण इस के पृथिवी कायिक नाम कर्म का उदय नहीं है। यह एक अचेतन पदार्थ है 'काय' का अर्थ 'शरीर' है। पृथिवी कायिक

---

‡ तत्र अचेतनावैश्रसिक परिणाम निर्वृत्ता काठिन्य गुणात्मिका पृथिवी। स.सि.

जीव ने जिस शरीर को छोड़ दिया है, वह शरीर 'पृथिवी काय'‡ कहलाता है, यह मरे हुये मनुष्यादि के काय के समान होता है। जिस जीव के पृथिवी कायिक नाम कर्म का उदय है, और जो उस पृथिवी काय से सम्बद्ध है, उसको 'पृथिवी कायिक'§ कहते हैं। तथा जिस के पृथिवी कायिक नाम कर्म का उदय है, परन्तु पृथिवी को काय स्वरूप से ग्रहण न कर वह कार्मांण काय योग में ही विद्यमान है, ऐसे विग्रह गति में स्थित 'पृथिवी जीव†' है।

इसी प्रकार जल, जलकाय, जलकायिक, 'और जल जीव, ये चार भेद जल के, और अग्नि, अग्निकाय, अग्निकायिक, और अग्नि जीव, ये चार भेद अग्नि के, वायु, वायु काय, वायुकायिक, और वायुजीव, ये चार भेद वायु के, बनस्पति, बनस्पति काय, बनस्पति कायिक, और बनस्पति जीव, ये चार भेद बनस्पति के समझना चाहिये। एवं जिस प्रकार पृथिवी के भेदों में अर्थ की योजना कर आये हैं, उसी प्रकार आगमानुसार इनमें भी कल्पना कर लेना चाहिये। इन उपर्युक्त पांचों ही प्रकार के स्थावरों का स्वरूप चार २ भेद मानकर समझ लेना चाहिये, इस प्रकार पांचों के बीस भेद होजाते हैं।

अब त्रस जीवों के भेद बताने के लिये सूत्र कहते हैं—

---

‡ कायः शरीरं पृथिवी कायिक जीव परित्यक्तः पृथिवी कायः मृत मनुष्यादि कायवत्। स. सि.

§ पृथिवीकायः अस्यास्तीति पृथिवी कायिकः। स.सि.

† तत्कायसम्बन्धवशीकृतआत्मा समवाप्तपृथिवीकायनाम कर्मोदयः कार्माणकाययोगस्थो यो न तावत्पृथिवी कायत्वेन गृह्णाति स पृथिवी जीवः।
स. सि.

द्वीन्द्रियादय त्रसाः ॥१४॥

सूत्रार्थः—(द्वीन्द्रियादयः) दो इन्द्रिय से लेकर पांच इन्द्रिय पर्यन्त के जीव (त्रसाः) त्रस होते हैं। ये चारों प्रकार के जीव जीवविपाकी त्रस नाम कर्म के उदय से होते हैं।

विशेषार्थः—दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, और पांच इन्द्रिय, जीवों को शास्त्रों में 'त्रस' कहा गया है, प्राणों की संख्या कुल दस है। पांच इन्द्रिय, तीन बल, आयु, और श्वासोश्वास, इन दस प्राणों में से दो इन्द्रिय जीवों के स्पर्शन और रसना ये दो इद्रिन्यां, काय और वचन ये दो बल, आयु और श्वासोश्वास इस प्रकार छः प्राण होते हैं। तीन इन्द्रिय जीवों के एक घ्राण इन्द्रिय (नासिका) के बढ़ जाने से सात प्राण हो जाते हैं। चार इन्द्रिय जीवों के चक्षु इन्द्रिय की वृद्धि होने से आठ प्राण होजाते हैं। असैनी पंचेन्द्रिय जीवों के कर्ण इन्द्रिय के बढ़ जाने से नौ प्राण होते हैं। सैनी अर्थात् मन सहित पंचेन्द्रिय जीवों के मन के मिलाने से प्राणों की संख्या दस होजाती है। मनुष्य, देव, नारकी और सैनी पंचेन्द्रिय तिर्यंचों के पूरे दस† प्राण होते हैं। यह कथन पर्याप्त जीव की अपेक्षा से है, अपर्याप्त में कुछ विशेषता है। और वह यह है, कि सैनी व असैनी पंचेन्द्रिय के श्वासोश्वास, वचन, तथा मन बल, को छोड़ कर शेष पांच इन्द्रिय, काय बल,

† इन दस प्राणों में मनोबल प्राण, इन्द्रिय प्राण, ये दो प्राण वीर्यान्तराय और मतिज्ञानावरण के क्षयोपशम रूप अन्तरंग कारण से उत्पन्न होते हैं। कायबल प्राण शरीर नाम कर्म के उदय से, और श्वासोश्वास शरीर नाम कर्म और श्वासोश्वास कर्म के उदय से, वचन बल प्राण शरीर नाम कर्म और स्वर नाम कर्म के उदय से होता है। और आयु कर्म के उदय से आयु प्राण होता है।

आयु, इस प्रकार सात प्राण होते हैं, आगे एक २ कम होता गया है-अर्थात् चार इन्द्रिय के कर्णको छोड़कर छ: प्राण, तीन इन्द्रिय, के चक्षु को छोड़कर पांच, और दो इन्द्रिय के घ्राण को छोड़ कर चार, तथा एकेन्द्रियके रसनाको छोड़कर शेष तीन ही प्राण होते हैं। इसका कारण यह है कि इन्द्रिय, काय, आयु, ये तीन प्राण पर्याप्त और अपर्याप्त दोनों हीके होते हैं। किन्तु श्वासोश्वास पर्याप्त के ही होता है, तथा वचन बल, पर्याप्त द्वीन्द्रियादि के ही होता है। और मनबल सैनी पर्याप्तक के ही होता है।

जैन सिद्धान्त में 'प्राण' शब्द पारिभाषिक है। जिसके द्वारा जीव जीता है, उसे 'प्राण' कहा जाता है। प्राण के द्रव्य और भाव के भेद से दो भेद होते हैं। आंखों को खोलना, बंद करना, श्वासोश्वास लेना, काय-व्यापार आदि बाह्य द्रव्य इन्द्रियों के व्यापार (क्रिया) को 'द्रव्य प्राण' कहते हैं। तथा इन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम से होने वाली चैतन्य रूप आत्मा की प्रवृत्ति को 'भाव प्राण' कहते हैं। सैनी पंचेन्द्रिय के बारहवें गुण स्थान तक दसों प्राण होते हैं। तेरहवें गुणस्थान में वचन श्वासोश्वास, आयु, और कायबल, ये चार प्राण रह जाते हैं। आगे चल कर इसी गुणस्थान में वचन का अभाव होने से तीन, और श्वासोश्वास का भी अभाव होने से सिर्फ दो प्राण रहजाते हैं। चौदहवें गुणस्थान में कायबल का भी अभाव होने से केवल एक आयु प्राण बाकी रह जाता है। सिद्ध जीवों के मोक्षावस्था में शरीर नहीं रहता। अतएव सिद्धों के सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र आदि आत्मिक भाव प्राण माने गये हैं। इस लिये संसारी जीव द्रव्य प्राणों की अपेक्षा और सिद्ध परमात्मा भाव प्राणों की अपेक्षा से जीव कहे जाते हैं।

शंख, गिंडोला, गिजाई, कौड़ी, आदि को दो इन्द्रिय, खटमल, चींटी, मकोड़ा, जूं आदि को तीन इन्द्रिय, भौंरा, मक्खी, मच्छर, तितली, बिच्छू, ततैया, आदि को चार इंद्रिय, सर्प, पशु, पक्षी, मगरमच्छ, मनुष्य, देव, नारकी, पंचेन्द्रिय जीव हैं। दो इन्द्रिय से लेकर पांच इन्द्रिय तक के जीवों में ही प्रायः गमन शक्ति होती है, अतः इनको 'त्रस' कहा गया है। एकेन्द्रियों में वह शक्ति नहीं है, इसलिये त्रसों में शामिल न करके स्थावर नाम से कहा गया है।

अब इन्द्रियों का कथन करने के लिये सूत्र कहते हैं—

पंचेन्द्रियाणि ॥ १५ ॥

सूत्रार्थः—इन्द्रियां कुल मिलाकर पांच ही होती हैं। और वे न कम होती हैं, न अधिक।

विशेषार्थः—'इन्द्र' नाम जीव का है, और इन्द्र (जीव) के लिंग (चिन्ह) को 'इन्द्रिय' कहते हैं। यद्यपि संसारी आत्मा कर्म बन्धनों में जकड़े रहने के कारण इन्द्र (परमेश्वर) नहीं हैं। तथापि उस के अंदर इन्द्र (परमेश्वर) होने की शक्ति मौजूद है। इस तरह से कर्म बन्धनों में फंसा रहने पर भी 'इन्द्र' नाम से कहा जाता हैं। जिन के द्वारा इन्द्र (आत्मा) शब्दादिक विषयों को सेवन (ग्रहण) करे, उनको 'इन्द्रिय' कहते हैं। ऐश्वर्य के धारण करने वाले को 'इन्द्र' कहते हैं। सब द्रव्यों का स्वामी जीव है, और समस्त विषयों में जीव के ही उत्कृष्ट ऐश्वर्य का सम्बन्ध है, एवं समस्त विषयों का उत्कृष्ट भोक्ता भी जीव ही है। अतएव वह इन्द्र है। इन्द्रियां जीव को सूचित करने वाली हैं, परन्तु सभी जीवों के पांचों ही इन्द्रियां नहीं होती। किसी के एक, किसी के दो, किसी के तीन, किसी के चार, और किसी के पूरी पांच इन्द्रियां, होती

हैं। इन पांचों इन्द्रियों में से रसना से लेकर कर्ण पर्यन्त चार इन्द्रियोंका आकार नियतहै, परन्तु स्पर्शनइन्द्रियका आकार नियम रूप से नियत नहीं है, अर्थात् कानों का आकार यव (जौ) की मध्य नाली के समान, नेत्रों का मसूर (एक तरह का अनाज) के समान, नाक का तिल पुष्प के समान, जिह्वा का अर्द्ध चन्द्रमा के समान, और स्पर्शन इन्द्रिय का आकार अनेक प्रकार‡ का होता है। ये इन्द्रियां ज्ञान और दर्शन स्वरूप उपयोग में कारण हैं, इसलिये स्पर्शन आदि पांचोंको 'इन्द्रिय' कहते हैं। सांख्य दर्शन§ में वाक् (वचन) पाणि (हाथ) गुदा आदिको भी इन्द्रिय माना है, परन्तु ये उपयोग में कारण नहीं हैं। अतएव उन्हें इन्द्रिय नहीं कहा जा सकता है।

अब इन्द्रियों के सामान्य भेदों को बताने के लिये सूत्र कहते हैं—

द्विविधानि ॥१६॥

सूत्रार्थः—पांचों इन्द्रियों में प्रत्येक इन्द्रिय के द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय, इस प्रकार दो दो भेद होते हैं।

विशेषार्थः— स्पर्शनादि पांच द्रव्येन्द्रिय, और पांच भावेन्द्रिय इस प्रकार दोनों के मिलाकर दस भेद हुये। आत्मा के असंख्यात प्रदेशों की अपेक्षा से अनन्त पुद्गल प्रदेशों के द्वारा जो उन २

---

‡ यवनाल मसूराति युक्तेन्द्वर्ध समाः क्रमात्।
श्रोत्राक्षि घ्राण जिह्वाः स्युः स्पर्शनं नैक संस्थितिः ॥ त. सा.

§ सांख्यदर्शन में ग्यारह इन्द्रियां मानी गई हैं। यथा—
बुद्धीन्द्रियाणी चक्षुः श्रोत्र घ्राण रसन त्वगाख्यानि।
वाक् पाद पाणीपायूपस्थाः कर्मेन्द्रिया ण्याहुः ॥२६॥ सां. त. कौ. ॥

इन्द्रियों का आकार विशेष बनता है, उसको 'द्रव्येन्द्रिय' कहते हैं। अर्थात् द्रव्येन्द्रिय का सम्बन्ध शरीर से है, और कर्म के क्षयोपशम की अपेक्षा में आत्मा की जो परिणति विशेष होती है, उसको 'भावेन्द्रिय' कहते हैं। अर्थात् भावेन्द्रिय का सम्बंध आत्मा के ज्ञानदर्शन स्वरूप उपयोग से समझना चाहिये। इनमें से पहले द्रव्येन्द्रिय का विशेष वर्णन करने के लिये सूत्र कहते हैं—

निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम् ॥१७॥

सूत्रार्थः—(द्रव्येन्द्रियं) द्रव्येन्द्रिय (निर्वृत्त्युपकरणे) निर्वृत्तिरूप और उपकरणरूप दो प्रकार की होती हैं।

विशेषार्थः—नाम कर्म के उदय से जो रचना विशेष हो, उसको 'निर्वृत्ति' कहते हैं, और वह अन्तरंग बहिरंग के भेद से दो प्रकार की होती। आत्मा के प्रदेशों का इन्द्रियों के आकार परिणत होना, 'अन्तरंग निर्वृत्ति'‡ है, और पुद्गल परमाणुओं का नासिका आदि इन्द्रियों के आकार परिणत होजाना 'बहिरंग निर्वृत्ति'§ है जो निर्वृत्तिका सहायक हो, अर्थात् रक्षक हो वह 'उपकरण'* है। उसके भी वाह्य आभ्यन्तरके भेद से दो भेद हैं। मसूर के आकार नेत्रेन्द्रिय का जो भीतर सफेद और काला गोलक है, वह 'अभ्यन्तर उपकरण' और पलक आदि 'वाह्य उपकरण' हैं। जैसे—नेत्र इन्द्रिय

‡ उत्सेधांगुलासंख्येयभाग प्रमितानां शुद्धानामात्मप्रदेशानां प्रतिनियत चक्षुरादीन्द्रिय संस्थाने नावस्थितानां वृत्ति रभ्यन्तरा निर्वृतिः। स.सि.

§ तेष्वात्मप्रदेशेष्विन्द्रियव्यपदेश भाक्षु यः प्रति नियत संस्थानो नाम कर्मोदयापादितावस्था विशेषः पुद्गल प्रचयः सावाह्या निर्वृतिः। स.सि.

* येन निर्वृतेरुपकारः क्रियते तदुपकरणम्। तत्राभ्यन्तर कृष्ण शुक्ल मण्डलम्। वाह्य मक्षि पत्र पक्ष्म द्वयादि। स. सि.

में नेत्र इन्द्रिय के आकार रूप आत्मा के जितने प्रदेश मसूर के समान फैले हैं, वह 'आभ्यंतर निवृ त्ति' है, और उसमें जितने पुद्गल परमाणु मसूर के आकार में परिणत हुये हैं, उसको 'वाह्य-निवृ त्ति' कहते हैं। एवं मसूर के आकार रूप नेत्र इन्द्रिय के सफेद भाग, पलकें, आदि 'वाह्य उपकरण' हैं। और इन रूप जो आत्मा के प्रदेश परिणत हैं, वे 'आभ्यन्तर उपकरण' हैं। यह नेत्र इन्द्रिय सम्बन्धी निवृ त्ति और उपकरण का स्वरूप बतलाया है। इसी प्रकार स्पर्शनादि अन्य इन्द्रियों के विषयों में भी यथा योग्य घटित कर लेना चाहिये। अर्थात् द्रव्य इंद्रिय को भावेन्द्रिय की सहायक समझना चाहिये।

अब भावेन्द्रिय का वर्णन करने के लिये सूत्र कहते हैं—

लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम् ॥१८॥

सूत्रार्थ:-(लब्ध्युपयोगौ) लब्धि और उपयोग ये दो (भावेंद्रियम्) भावेन्द्रिय के भेद हैं।

विशेषार्थ:—'लब्धि' शब्द का अर्थ 'प्राप्ति' है। अर्थात् जिस के बलसे आत्मा द्रव्येन्द्रिय की रचना में प्रवृत्ति करे, ऐसे ज्ञानावरणीय कर्म के विशेष क्षयोपशम का नाम 'लब्धि' है। अथवा द्रव्येन्द्रिय की रचना का कारण आत्मा का ज्ञानावरण कर्म का जो विशेष क्षयोपशम रूप परिणाम है, उसका नाम 'लब्धि' है। और ज्ञानावरण कर्म के उस विशेष क्षयोपशम से उत्पन्न जो आत्मा का परिणाम विशेष है, उसका नाम 'उपयोग' है, इस प्रकार 'लब्धि' और 'उपयोग' दोनों स्वरूप भावेन्द्रिय हैं। इंद्रियों के विषय को ग्रहण करने की ज्ञान शक्ति का विकाश अथवा लाभ होना, यह तो 'लब्धि' है। और उस ज्ञान शक्ति को काम में लाना इस का

नाम उपयोग समझना चाहिये। 'लब्धि' के होने से उसर इन्द्रिय के विषय को ग्रहण करने की जीव में योग्यता प्राप्त होती है, और उस योग्यताको अमल (आचरण) में लाना इसको 'उपयोग' कहते हैं। जैसे-किसी जीव में सुनने की शक्ति है, परन्तु उपयोग जो चैतन्य का परिणमन है, सो अन्यत्र हो, अर्थात् अन्य वस्तुओं में लग रहा हो, तो सुनता नहीं। इस लिये 'लब्धि' और उपयोग जब दोनों ही मिलें तब ज्ञान की सिद्धि होती है। प्राप्त हुई शक्ति का विकाश उपयोग द्वारा ही होता है।

अब उन इन्द्रियों के नाम बतलाने के लिये सूत्र कहते हैं—

स्पर्शन रसन घ्राण चक्षुः श्रोत्राणि ॥१६॥

सूत्रार्थः-स्पर्शन (त्वचा या चमड़ा) रसन (जीभ) घ्राण (नासिका या नाक) चक्षु (नेत्र या आंख) श्रोत्र (कर्ण या कान) ये पांच इन्द्रियों के नाम हैं।

विशेषार्थः-जिस के द्वारा शीत (सर्दी) उष्णादिक स्पर्श का ज्ञान हो, उसको 'स्पर्शन इन्द्रिय' कहते हैं। खट्टे, मीठे, आदि रस का जिस से ज्ञान हो, उसको 'रसना इन्द्रिय' कहते हैं। सुगंध दुर्गंध का भेद जिस से मालूम हो, उसको 'घ्राण इन्द्रिय' कहते हैं। काले पीले आदि रंगों का ज्ञान जिस के द्वारा किया जा सके, वह 'चक्षु इन्द्रिय' है। मनुष्य, पशु, बाजे, आदि के शब्दों को जिससे सुन सके, उसको 'कर्ण इन्द्रिय'‡ कहते हैं। प्रचलित भाषा में इन को शरीर (त्वचा), जीभ, नाक, आंख, और कान, इस प्रकार इन नामों से कहते हैं। संसार में इंद्रियों की अपने कार्य के प्रति स्वतंत्रता रूप से भी विवक्षा है। अतः वे कर्तृसाधन भी हैं। क्यों-

‡ करण साधन की अपेक्षा से ऐसा अर्थ समझना चाहिये।

कि कहा जाता है, कि मेरी नाक सूंघती है, मेरी जीभ चखती है, इत्यादि, इसी प्रकार अन्य इंद्रियों के विषय में भी समझ लेना चाहिये। यदि उन्हें कर्तृसाधन (विषय ग्रहण करने में स्वतंत्रता) न माना जाय, तो संसार में इस रूप से व्यवहार नहीं हो सकता। दूसरी अपेक्षा से ये करण साधन भी हैं, क्योंकि ऐसा भी व्यवहार किया जाता है, कि मैंने नाक द्वारा सूंघा, या आंखों द्वारा देखा, इत्यादि। सारांशतः इन्द्रियां कर्तृसाधन और करण साधन दोनों ही रूप हैं।

अब स्पर्शनादि पांचों इंद्रियों का विषय प्रदर्शित करने के लिये सूत्र कहते हैं—

स्पर्श रस गन्ध वर्ण शब्दास्तदर्थाः ॥२०॥

सूत्रार्थः—(स्पर्शरस गन्धवर्ण शब्दाः) स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, और शब्द, ये पांच (तदर्थाः) उक्त पांचों इन्द्रियों के विषय वा जानने योग्य ज्ञेय पदार्थ हैं।

विशेषार्थः—स्पर्शन इन्द्रिय का विषय स्पर्श, अर्थात् छूना है। रसना इन्द्रिय का विषय रस, अर्थात् चखना या स्वाद लेना है। घ्राण इन्द्रिय का विषय सुगन्धि, दुर्गन्धि, का सूंघना है। नेत्र इन्द्रिय का विषय वर्ण, अर्थात् रंगों को देखना है। और श्रोत्र इन्द्रिय का विषय शब्दों को सुनना है। जिस समय द्रव्य की विवक्षा की जायगी, उस समय स्पर्श आदि कर्म साधन होंगे, और जिस समय पर्याय की विवक्षा होगी तो उस समय भाव साधन होंगे। ये उपर्युक्त विषय नियत इन्द्रियों के सिवाय अन्य इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण नहीं किये जा सकते हैं। अर्थात् कोई भी इन्द्रिय अन्य इंद्रिय के विषय को ग्रहण नहीं कर सकती है। प्रत्येक

इन्द्रिय अपने२ विषय को ग्रहण करने में पूर्ण रूप से स्वतंत्र है। 'इन्द्रवत् इन्द्रियम्' जिस प्रकार 'इन्द्र' अपने अधिकारों के लिये अपने आपको पूर्णतया स्वतंत्र अनुभव करता है, उसी प्रकार ये इंद्रियां भी अपने २ विषय में पूर्णतया स्वतत्र हैं। 'इंद्रिय' और 'इन्द्र' ये दोनों ही शब्द 'इदि, परमैश्वर्यै' धातु से सिद्ध होते हैं। अतएव शब्द निरुक्ति से दोनों का अर्थ भी समान है, और कार्य भी दोनों का समान ही है। जैसे—स्पर्श विषय स्पर्शन इन्द्रिय के द्वारा ही जाना जा सकता है, न कि किसी दूसरी इन्द्रिय के द्वारा। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों के विषयों में भी समझ लेना चाहिये।

चक्षु इन्द्रिय अप्राप्ति (दूर से) रूप से ही पदार्थ को ग्रहण करती है। शेष चारों ही इन्द्रियां प्राप्त (भिड़कर) रूप† से ही विषय ग्रहण करती हैं। इन स्पर्शादि विषयों के उत्तर भेद भी हैं। जैसे—स्पर्श आठ तरह का होता है—शीत (ठंडा), उष्ण (गर्म), स्निग्ध (चिकना), रूक्ष (रूखा), गुरु (भारी), लघु (हल्का), मृदु (नर्म), कठोर (कड़ा या सख्त), रस पांच प्रकारका होता है—मधुर (मीठा),आम्ल (खट्टा), कटु (कड़वा),कषाय (कसैला),तिक्त (चर्परा), गंध दो प्रकार का होता है—सुगंध (खुशबू), दुर्गंध (बदबू), वर्ण पांच प्रकार का होता है—श्वेत (सफेद), नील (नीला), पीत (पीला), रक्त (लाल), हरित (हरा), शब्द—गर्जित (बादल जैसी गर्जना) आदि के भेद से सात प्रकार, और तत, वितत, घन, शुषिर, संघर्ष, और भाषा, के स्वर भेदसे छः प्रकार का भी होता है। अथवा इसके अक्षर और अनक्षर रूप से भी दो भेद हैं। इस प्रकार पांचों इन्द्रियों के स्थूल रूप से कुल (आठ प्रकार का स्पर्श, पांच

---

† पुट्ठं सुणोदि सद्दं अपुट्ठं चेवपस्सदे रूवं।
फासं रसं च गन्धं बद्धं पुट्ठं विजाणादि॥

प्रकार का रस, दो प्रकार का गंध, पांच प्रकार का वर्ण, और सात प्रकार का शब्द) मिला कर सत्ताईस विषय बतलाये गये हैं। स्पर्शन आदि इन्द्रियों के समान मन का कोई विषय निश्चित नहीं है। इसलिये ऊपर के सूत्र में उसको इन्द्रिय रूप से ग्रहण नहीं किया है। मन का निश्चित विषय क्या है? इसके उत्तर स्वरूप सूत्र कहते हैं—

श्रुत मनिन्द्रियस्य ॥२१॥

सूत्रार्थः—(अनिन्द्रियस्य) मन का विषय (श्रुतम्) श्रुतज्ञान गोचर पदार्थ है।

विशेषार्थः—'सूत्र' में जो 'श्रुत' शब्द है, उससे श्रुतज्ञानके विषयभूत पदार्थ का ज्ञान है। उस (पदार्थ) को मन विषय करता है। क्योंकि जिसने श्रुतज्ञानावरणकर्म का क्षयोपशम प्राप्त कर लिया है, ऐसे आत्माके मनके आश्रयसे उत्पन्न ज्ञान की, श्रुतज्ञान के विषयभूत पदार्थ में प्रवृत्ति होती है, अथवा 'श्रुत' शब्दका अर्थ श्रुतज्ञान है, वह मन से होता है। इसलिये मन पूर्वक होनेसे वह श्रुतज्ञान ही मन का कार्य (विषय) है। ऐसे इन्द्रियों के व्यापार की अपेक्षा न कर श्रुतज्ञान का उत्पन्न करना मन का स्वतन्त्र कार्य वा प्रयोजन है। अर्थात् श्रुत ज्ञान मन पूर्वक ही होता है, जैसे कर्ण इन्द्रिय (कान) से श्रवण मात्र किया, वह तो मतिज्ञान है। उस श्रवण पूर्वक पदार्थ का विचार सो श्रुतज्ञान है। 'घट' शब्द कानों से सुना, यह तो मतिज्ञान है, उस 'घट' शब्द सुनने से 'घट' नामके पदार्थ का विचार होना, यह 'श्रुतज्ञान' समझना चाहिये। यह ज्ञान मनके सिवाय अपनी उत्पत्ति में (जहां तक विचारका सम्बन्ध है) किसी भी इन्द्रिय की सहायता की अपेक्षा नहीं रखता है, इसलिये

वह स्वतंत्र रूप से मन का कार्य है। अतएव 'श्रुतज्ञान के विषय भूत पदार्थ या स्वयं श्रुतज्ञान का श्रोत्र इन्द्रिय से ग्रहण होता है, मन से नहीं' ऐसा कहना निर्हेतुक है। सम्पूर्ण भेद रूप श्रुतज्ञान मन का विषय है। सारांश यह है कि संपूर्ण तत्वार्थ और द्वादशांग के समस्त विषयों का जो विचार होना, या करना, मन का कार्य है, अथवा किसी भी विषय का विचार करना ही इसका (मन का) विषय है। मतिज्ञान के बाद जो कुछ भी विचार होता है, वह सब श्रुतज्ञान में शामिल है। क्योंकि वह मन के बिना नहीं होता। परन्तु मुख्यतया द्वादशांग (द्रव्यश्रुत) के अनुसार जो होता है, वही लिया गया है। मन को अनिन्द्रिय कहनेका प्रयोजन यह है, कि इन्द्रियोंकी तरह इसका एक विषय निश्चित नहीं है, और इसका स्थान भी इन्द्रियों के स्थान के समान प्रत्यक्ष दृष्टि गोचर नहीं है, अतएव इसको अनिन्द्रिय एवं अंतःकरण कहा गया है।

किस किस जीव के कितनी और कौन २ इन्द्रियां होती हैं ? यह बताने के लिये सूत्र कहा जाता है—

बनस्पत्यन्ताना मेकम् ॥२२॥

सूत्रार्थः—(बनस्पत्यन्तानां) बनस्पति काय है अन्त में जिनके, ऐसे पांच प्रकार के स्थावर जीवों के (एकं) पहली स्पर्शन इन्द्रिय होती है।

विशेषार्थः—पृथिवी कायिक, जल कायिक, अग्नि कायिक, वायु कायिक, और बनस्पति कायिक, इन पांचों प्रकार के स्थावर जीवों के एक मात्र पहली स्पर्शन इन्द्रिय होती है। वीर्यान्तराय और स्पर्शनेन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम रहने पर और रसना आदि शेष इन्द्रिय सम्बन्धी घाती स्पर्द्धकों के उदय रहने पर शरीर

और अंगोपांग नाम कर्म के लाभ होने पर, एवं एकेन्द्रिय जाति नाम कर्म के उदय रहने पर 'स्पर्शन इन्द्रिय' की उत्पत्ति होती है। अर्थात् पांच स्थावर जीवों के एक मात्र पहली स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है (शेष नहीं)।

अब रसना आदि इन्द्रियों के स्वामियों का निरूपण करने के लिये सूत्र कहते हैं।

कृमि पिपीलिका भ्रमर मनुष्यादीना मेकैक वृद्धानि ॥२३॥

सूत्रार्थः—(कृमि पिपीलिका भ्रमर मनुष्यादीनां) लट, चिउंटी, भौंरा, मनुष्य, आदिक के (एकैक वृद्धानि) क्रम से एक२ इन्द्रिय बढ़ती हुई है।

विशेषार्थः—लट (गिडार) केंचुआ, जौंक, शंख, गिजाई, आदि के स्पर्शन और रसना, ये दो इन्द्रियां होती हैं। चिउंटी, खटमल, जूं आदि के स्पर्शन, रसना, और घ्राण ये तीन इन्द्रियां होती हैं। भौंरा, मक्खी, मच्छर, तितली, आदि के स्पर्शन रसना, घ्राण, और चक्षु ये चार इन्द्रियां होती हैं। मनुष्य, देव, नारकी, गौ, हाथी, घोड़ा आदि के पांचों ही इन्द्रियां होती हैं। रसना आदि इन्द्रियों की उत्पत्ति स्पर्शन इन्द्रिय के समान उत्तरोत्तर सर्वघाति स्पर्द्धकों के उदय रहने पर समझ लेना चाहिये। संसारी जीवों के त्रस और स्थावर दो भेदों को पहले कहा जा चुका है, उन्हीं के पांच इन्द्रियों के भेद से पांच भेदों को भी कह दिया है, अब संज्ञी (सैनी अर्थात् मन सहित) नाम का पंचेन्द्रिय जीवों का भेद नहीं कहा गया था, उसको नीचे लिखे हुये सूत्र द्वारा प्रगट करते हैं—

संज्ञिनः समनस्काः ॥२४॥

सूत्रार्थः—(समनस्काः) जो मन सहित हैं, वे जीव (संज्ञिनः) संज्ञी अर्थात् सैनी हैं। अर्थात् समस्त नारकी, सम्पूर्ण देव, और गर्भ से जन्म धारण करने वाले सभी मनुष्य और कोई २ तिर्यंच समनस्क अर्थात् सैनी कहलाते हैं। देव, नारकी और मनुष्य तो सब मन सहित ही होते हैं। परन्तु तिर्यंचों के दो भेद हैं—सैनी और असैनी। जो तिर्यंच गर्भ धारण करते हैं, वेही तिर्यंच मन सहित अर्थात् सैनी होते हैं, किंतु वे भी सभी सैनी नहीं हुआ करते हैं। सम्मूर्छन जन्म वाले नियमसे मन रहित होते हैं। और एकेन्द्रिय से चौइन्द्रिय तक के सभी जीव भी नियमतः मन रहित होते हैं।

जिस समय आत्मा पिछले शरीर को छोड़ कर नवीन शरीर को प्राप्त करने के लिये गमन करता है, उस विग्रह गति† काल में उसके मन तो होता नहीं है, फिर वहांपर बुद्धि पूर्वक गमन-क्रिया एवं कर्म का आश्रव क्यों कर होता है?

इस प्रश्न के उत्तर में सूत्र कहते हैं—

विग्रह गतौ कर्म योगः ॥२५॥

सूत्रार्थः-(विग्रह गतौ) नया शरीर धारण करने के लिये जो गति अर्थात् गमन होता है, उसमें (कर्मयोगः) कार्माण योग है, अर्थात् कार्माण योग से ही जीव एक गति से दूसरी गति में गमन किया करता है ॥२५॥

विशेषार्थः-'विग्रह' शब्द का अर्थ शरीर है। उस शरीर के लिये जो गमन किया जाता है, वह 'विग्रह गति'‡ कहलाती है। जीव

† विग्रहायशरीराय गतिर्गमनम् विग्रह गतिः। अर्थात् नवीन शरीर के लिये जो गति है, उसको 'विग्रह गति' कहते हैं।

‡ विग्रहो हि शरीरं स्यात्तदर्थं या गतिर्भवेत्।
विशीर्णं पूर्वं देहस्य सा विग्रह गतिः स्मृता ॥६६॥ त० सा०

जिस समय दूसरा नवीन शरीर धारण करने के लिये प्रवृत्त (तैयार) होता है, उस समय पहले शरीर का परित्याग कर ही प्रवृत्त होता है, आत्मा के प्रदेशों के अंदर जो हलन चलन होता है,उसका नाम 'योग' है। यह 'योग' विग्रह गतिमें कार्माण शरीर के द्वारा होता है। उसी योग के द्वारा विग्रह गति में आत्मा के कर्मों का आदान (ग्रहण) तथा मन रहित उस आत्मा की नवीन शरीर धारण करने के लिये गति, ये दोनों कार्य †होते है। योगों की चंचलता हुये बिना शरीर सम्बन्धी कुछ भी हीनाधिकता नहीं होने पाती। इसलिये विग्रह गति में कर्मबन्ध, और नवोन शरीर धारण करना, ये दोनों कार्य होते हैं। दूसरा कोई योग वहां हो नहीं सकता। इसलिये उक्त दोनों कार्यों का साधक कार्माण योग ही है। क्योंकि कम पिंड का नाम कार्माण योग है। इसी के अवलंबन से आत्मा दोनों कार्य विग्रह गति में करता है।

विग्रह गति ऋजु (सरल या सीधी) और वक्र (टेढ़ी) के भेद से दो प्रकार की होती है। धनुष पर से छुटे हुए बाण के समान जो सीधी गति होती है, उसको 'ऋजुगति' कहते हैं और जिसमें मोड़ा लेने पड़े उसको 'वक्रगति' कहा जाता है। ऋजुगति में भिन्न समय नहीं लगता, क्योंकि यहां पर पूर्व गति का त्याग, और उत्तर शरीर का ग्रहण, एक ही समय में हो जाता है। अतएव उसमें भिन्न समय नहीं लगता, किन्तु वक्र गति में मोड़ा लेना पड़ता है। इसलिये इसमें एकसे लेकर तीन समय तक लग जाते हैं। इसलिये वक्र गतिके तीन भेद किये गये हैं—एकसमया, द्वि समया, त्रि समया।

---

† जीवस्य विग्रह गतौ कर्मयोगं जिनेश्वराः।
प्राहुर्देहान्तर प्राप्ति कर्मग्रहण कारणम् ॥९७॥ त० सा०

जीव और पुद्गल जिस समय वे आकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में जाने के लिये उद्यत होते हैं, उस समय वे आकाश प्रदेशों के क्रम से गमन करते हैं ? या प्रदेशों के अक्रम से ? इसी बात को बताने के लिये सूत्र कहते हैं—

अनुश्रेणि गतिः ॥२६॥

सूत्रार्थः—(गतिः) जीव और पुद्गलों का गमन (अनुश्रेणिः) आकाश के प्रदेशों की श्रेणी का अनुसरण करके होता है। श्रेणी (आकाश के प्रदेशों की पंक्ति) को छोड़ कर विदिशा रूप गमन नहीं होता है।

विशेषार्थः—मृत्यु होने पर नवीन शरीर धारण करने के लिये जो जीवों का गमन होता है, वह आकाश प्रदेशों की श्रेणी में ही होता है, अन्य प्रकार नहीं। लोक के मध्य भाग से लेकर ऊपर नीचे और तिरछे अनुक्रम से रचना स्वरूप आकाश के प्रदेशों की जो पंक्ति (लाइन) है, उसका नाम 'श्रेणि' है। मरण के समय एक भव से दूसरे भव में जिस समय जीवों का गमन होता है, उस समय नियम से उनकी गति श्रेणि के अनुसार ही होती है। तथा जिस समय मुक्त जीवों का ऊर्ध्व गमन होता है, उस समय उनकी नियम से श्रेणि के अनुकूल ही गति होती है। इस प्रकार जीवों की अपेक्षा यह काल का नियम है, तथा जिस समय ऊर्ध्व लोक से अधोलोक में जाना है, अथवा अधोलोक से ऊर्ध्वलोक में जाना है, वहां पर नियम से श्रेणि के अनुकूल ही गति होती है, यह जीवों की अपेक्षा देश का नियम है। यहां पर जिस काल व जिस देश का उल्लेख है, उस काल और उस देश में तो श्रेणि के अनुकूल ही गति का विधान है, किन्तु इनसे भिन्न काल और

देशों में यह नियम नहीं है। जिस समय पुद्गल का शुद्ध परमाणु एक समय में चौदह राजू तक गमन करता है, वह भी श्रेणि रूप ही गमन करता है, किन्तु अन्य अवस्था में उसकी गति का कोई नियम नहीं है। अब मुक्त जीवों की गति के विषय में विशेष निरूपण करने के लिये सूत्र कहा जाता है—

अविग्रहा जीवस्य ॥२७॥

सूत्रार्थः—(जीवस्य) मुक्त जीव की गति (अविग्रहा) वक्रता रहित अर्थात् मोड़े रहित सीधी होती है। अर्थात् मुक्त जीव एक समय में सीधा सात राजू ऊँचा गमन करता हुआ, सिद्ध क्षेत्र में चला जाता है, इधर उधर नहीं मुड़ता। 'विग्रह' शब्द का अर्थ 'कौटिल्य' है। अर्थात् दूसरी श्रेणि में चला जाना 'विग्रह' शब्द का अर्थ है। मुक्त जीवों की गति में उसका अभाव है, और इस तरह मुक्त जीव की गति को 'ऋजुगति' कहते हैं। और इस गति में सिर्फ एक समय ही लगता है।

अब संसारी जीवों की गति के विषय में निरूपण करने के लिये सूत्र कहते हैं—

विग्रहवती च संसारिणः प्राक् चतुर्भ्यः ॥२८॥

सूत्रार्थः—(च) और (संसारिणः) संसारी जीव की गति (प्राक्-चतुर्भ्यः) चार समय से पहले २ (विग्रहवती) विग्रह * वाली अर्थात् मोड़े वाली है।

विशेषार्थः— संसारी जीव की गति एक समय, दो समय, तीन समय, पर्यन्त भी होती है। अर्थात् प्रथम समय में ही जब वह

* यहां पर 'विग्रह' शब्द का अर्थ 'शरीर' नहीं है। किन्तु उसको वक्रता, मोड़, अथवा टेढ़, का वाचक समझना चाहिये।

नया शरीर धारण करलेता है, तो उस समय उसे कोई मोड़ा नहीं लेना पड़ता, किन्तु दूसरे समय में एक मोड़ा, तीसरे समय में दो मोड़ा, और चौथे समय से पहले २ वह तीसरा मोड़ा लेकर कहीं न कहीं अवश्य नवीन शरीर धारण कर लेता है, फिर वह शरीर रहित नहीं रहता है। ऐसा कोई इस लोक में उत्पत्ति क्षेत्र नहीं है, कि जिसमें जाने के लिये चार या पांच मोड़ों के लेने को आवश्यक्ता पड़े, इसलिये चार समय से अधिक समय के मानने की आवश्यक्ता नहीं है। तीन मोड़ाओं के लिये चार समय से पहले२ का काल पर्याप्त (काफी) है। विग्रह गति में ऋजु गति (मोड़ा रहित) एक मोड़ा वाली, दो मोड़ा वाली, तीन मोड़ा वाली, इस प्रकार चार गतियां हैं। शास्त्रों में इन गतियों को क्रम से इषुगति, पाणिमुक्ता, लांगलिका, और गोमूत्रिका, इस प्रकार नाम हैं। इन गतियों में 'इषुगति' मोड़ा रहित होती है, और शेष गतियां मोड़ा सहित हैं।

धनुष पर से छोड़े हुये बाण के समान संसारी और सिद्ध जीवों की जो मोड़ा रहित सीधी गति होती है, उसे 'इषुगति' कहते हैं, इस में एक समय लगता है। एक ही समय में पुराना शरीर छोड़ना, तथा नया शरीर धारण करना, ये दोनों ही कार्य संपन्न होजाते हैं, इसलिये इस गतिमें जीव अनाहारक (आहार न करने वाला) नहीं है। संसारी जीव की जो गति एक मोड़ा लेकर हो, वह 'पाणिमुक्ता' गति है। 'पाणिमुक्ता' का अर्थ, टेड़ा हाथ होता है। हाथ को टेड़ा करने से कोहनी पर टेड़ पड़ता है। एक मोड़ लेने में एक समय लगता है, और एक समय गमन करने में लगता ही है, इस प्रकार जितने मोड़ा लेने होते हैं, उतने समय तो मोड़े लेने में खर्च होते हैं, और एक समय गमन करने में

में लग जाता है, इस लिये इस 'पाणिमुक्ता' गति में एक मोड़ा लेना पड़ता है, अतएव दो समय लगते हैं। जिस तरह हल में दो जगह मोड़ होती है, उसी तरह जिस गति में दो मोड़े लेने पड़ें, उसे 'लांगलिका' गति कहते हैं। 'लांगल' शब्द का अर्थ 'हल' है। जिस प्रकार हल में दो मोड़ होती हैं, उसी प्रकार इस गति में दो मोड़ा लेने पड़ते हैं, अतएव इस गति में जीव को तीन समय लग जाते हैं। चौथी गति 'गोमूत्रिका' है, गौ जिस समय पेशाब करती हुई चलती जाती है, तो उसके चलते रहने के कारण, उसमें कई मोड़ा हो जाते हैं। जिस जीव की गति गोमूत्र के समान अधिक टेढ़ी होती है, उसको उस गति में तीन मोड़े लेने पड़ते हैं। तीन मोड़ाओं के लेने से इस गति में जीव को चार समय लग जाते हैं। चारों गतियों में 'इषुगति' संसारी, सिद्ध, दोनों के होती है। परन्तु शेष गतियां केवल संसारी जीवों के ही होती हैं। 'इषुगति' में संसारी जीव आहारक (आहार करने वाला) बना रहता है।

जो गति मोड़ा रहित है, उसका कितना समय है? यह बताने के लिये सूत्र कहते हैं—

एक समयाऽविग्रहा ॥२९॥

सूत्रार्थः—(अविग्रहा) मोड़ा रहित गति (एक समया) एक समय मात्र ही होती है। इसको 'ऋजुगति' भी कहते हैं ॥२९॥

विशेषार्थः—गतिमान् जीव और पुद्गल की मोड़ा रहित गति लोक के अग्रभाग पर्यन्त भी एक ही समय में निष्पन्न (पूरी) हो जाती है। संसारी और मुक्त दोनों के अविग्रहा गति (मोड़ारहित) होती है। और इस गति का समय एक समय मात्र है। अविग्रहा (बिना मोड़े वाली) गति में संसारी जीव अनाहारक नहीं रहता,

कर्म वर्गणाओं का ग्रहण लगातार ही होता रहता है। कार्माण शरीर की मौजूदगी में उत्पत्ति क्षेत्र की ओर मोड़ा रहित (ऋजुगति) गति में जीव आहारक है। अन्य तीन समयों में जीव अनाहारक है। ऋजुगति वाला संसारी जीव विग्रहगति में भी आहारक है। विग्रह गति में जीव कितने समय तक जीव अनाहारक रहता ? इस प्रश्न के उत्तर में सूत्र कहते हैं—

एकं द्वौ त्रीन्वा ऽनाहारकः ॥३०॥

सूत्रार्थः—विग्रह गति वाला जीव (एकं) एक समय में, (द्वौ) दो समय में (वा) अथवा (त्रीन्) तीन समय में (अनाहारकः) अनाहारक है।

विशेषार्थः—औदारिक, वैक्रियिक, और आहारक, इन तीन शरीरों* और छह पर्याप्तियों में से किसी भी शरीर और पर्याप्ति के योग्य पुद्गल वर्गणाओं के ग्रहण को 'आहार' कहते हैं। जीव जब तक ऐसे आहार को ग्रहण नहीं करता है, तब तक उसे 'अनाहारक' कहते हैं। कम से कम एक समय तक और अधिक से अधिक तीन समय तक जीव अनाहारक रहताहै, चौथे समय में नवीन शरीर धारण कर वह नियम से आहारक बन जाता है। फिर इस के बाद अनाहारक नहीं रहता है। 'अनाहारक' का अर्थ

---

* अविग्रहैक समया कथितेषु गतिर्जिनैः।
अन्या द्वि समया प्रोक्ता पाणि मुक्तैक विग्रहा ॥
द्वि विग्रहां त्रिसमयां प्राहु लांगलिकां जनाः।
गोमूत्रिका तु समयैश्चतुर्भिः स्यात् त्रिविग्रहा ॥ 'तत्वार्थसारे'

* इन शरीरों का वर्णन इसी अध्याय में आगे चलकर विस्तार से किया गया है।

ऊपर बता दिया गया है। ऐसी अनाहारक अवस्था अधिक से अधिक तीन समय तक रहती है।

जैन शास्त्रों में आहार छह †प्रकारका माना है। इन छह प्रकार के आहारों में से विग्रह गति में तीन समय तक कोई भी आहार नहीं होता है। यह जीव जिस समय नवीन शरीर को धारण करने के लिये गमन कर रहा है, उस समय आहारक है। तथापि कुटिल (टेढ़ी) गति करते समय यह एक, दो, तीन, समय तक अनाहारक रहता है। इस रीति से कुटिल गति के कारण, उपर्युक्त आहार की योग्यता न रहने के कारण, विग्रह गति में एक, दो, तीन, समय तक जीव अनाहारक रहता है। पश्चात् नियम से चौथे ही समय में आहारक हो जाता है।

विग्रह गति को प्राप्त होने वाले चारों गति सम्बन्धी जीव, प्रतर और लोक पूर्ण समुद्घात * करने वाले सयोग केवली, अयोग केवली, और सिद्ध परमेष्ठी, ये जीव 'अनाहारक' होते हैं। और इनको छोड़कर समस्त जीव आहारक होते हैं। आहारक का उत्कृष्ट काल सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण है। कार्माण शरीर में अनाहारक का उत्कृष्ट काल तीन समय का है। और

† णो कम्म कम्महारो कवलाहारो य लेप्प मा हारो।
ओजमणो वियकमसो आहारो छव्वि हो णेयो ॥

अर्थात्—नोकर्माहार, कर्माहार, कवलाहार, लेपाहार, ओजाहार, मानसिक आहार, ये छह प्रकार का आहार होता है।

* आत्म प्रदेशों का शरीर से सम्बन्ध न छोड़कर बाहर निकलना, इसको 'समुद्घात' कहते हैं। यह वेदना, कषाय, मारणान्तिक, तैजस, विक्रिया, आहारक और केवली, के भेद से सात प्रकार का होता है। इनका विशेष वर्णन तीसरे अध्याय में किया गया है।

जघन्य काल एक समय का है। तथा आहार का जघन्य काल तीन समय कम श्वास के अठारहवें भाग प्रमाण है। क्योंकि विग्रह गति सम्बन्धी तीन समयों के घटाने पर क्षुद्रभव का काल इतना ही बाकी बचता है।

ऊपर के व्याख्यान में पर्याप्तियों का उल्लेख किया गया है, पाठकों के परिज्ञान के हेतु पर्याप्तियों का स्वरूप भी बतलाते हैं, और वह इस तरह है—

जिस प्रकार घटपटादिक अचेतन पदार्थ पूर्ण और अपूर्ण दोनों प्रकार के होते हैं, उसी प्रकार जीव भी पूर्ण और अपूर्ण दो प्रकार के होते हैं। जो पूर्ण हैं, उनको 'पर्याप्त' और जो अपूर्ण हैं, उनको 'अपर्याप्त' कहते हैं। ग्रहण की हुई आहार वर्गणाओं को खल, रस, भागादि (शरीर रूप) रूप परिणमावनेकी जीव की शक्ति के पूर्ण हो जाने को 'पर्याप्ति' कहते हैं। यह पर्याप्ति जिनके पाई जाय, उनको 'पर्याप्त', और जिनकी वह शक्ति पूर्ण नहीं हुई है, उन जीवों को 'अपर्याप्त' कहते हैं। जिस प्रकार घटपटादि पदार्थ बन चुकने पर पूर्ण और उससे पहले अपूर्ण कहलाते हैं, उसी प्रकार पर्याप्ति सहित को 'पर्याप्त', और पर्याप्ति रहित को 'अपर्याप्त' कहते हैं। ये पर्याप्ति प्राणों की कारण हैं, और प्राण पर्याप्तियों के कार्य समझना चाहिये। अर्थात् प्राण और पर्याप्ति में कार्य और कारण का अन्तर है। क्योंकिगृहीत (ग्रहण किये गये) पुद्गल स्कन्ध विशेषों को इन्द्रिय, वचन, आदि रूप परिणमावने की शक्ति की पूर्णता को 'पर्याप्ति', और वचन व्यापार आदि की कारणभूत शक्ति को, तथा वचन आदि को 'प्राण' कहते हैं।

आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोश्वास, भाषा, और मन इस प्रकार पर्याप्ति के छह भेद हैं। जिनमें एकेन्द्रिय जीवों के आदि

की चार पर्याप्ति, और दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, तथा असैनी पंचेन्द्रिय जीवों के मन पर्याप्ति को छोड़ कर शेष पांच पर्याप्ति होती है, और सैनी पंचेन्द्रिय जीवों के मन के भी होने से छहों पर्याप्ति होती हैं। जिनका वर्णन इस प्रकार है। १—एक शरीर को छोड़कर नवीन शरीरको कारणभूत जिस नोकर्म वर्गणा को जीव ग्रहण करता है, उसको खल रस भाग अर्थात् शरीर रूप परिणमावने के लिये जीव की शक्ति के पूर्ण हो जाने को 'आहार पर्याप्ति' कहते हैं। २—और खल भाग को हड्डी आदि कठोर अवयवरूप तथा रस भाग को खून आदि द्रव (नरम) अवयव रूप परिणमावने की शक्ति के पूर्ण होने को 'शरीर पर्याप्ति' कहते हैं। ३—तथा उस ही नो कर्मवर्गणा के स्कन्ध में से कुछ वर्गणाओं को अपनी २ इन्द्रिय के स्थान पर उस २ द्रव्येन्द्रिय के आकारमें परिणमावने की शक्तिके पूर्ण होजाने को 'इन्द्रियपर्याप्ति' कहते हैं। ४—इसी प्रकार कुछ स्कन्धों को श्वासोश्वास रूप परिणमावने की जीव की शक्ति के पूर्ण हो जाने को 'श्वासोश्वास पर्याप्ति' कहते हैं। ५—और वचन रूप होने के योग्य पुद्गल स्कन्धों को (भाषा§ वर्गणाओं को) वचन रूप परिणमावने की जीव की शक्ति के पूर्ण होजाने को 'भाषा पर्याप्ति' कहते हैं। ६—तथा द्रव्य मन रूप होने के योग्य पुद्गल स्कन्धों को (‡मनो-वर्गणाओं को) द्रव्यमन के आकार में परिणमावने की जीव की शक्ति के पूर्ण हो जाने को 'मनः पर्याप्ति' कहते हैं। जिन जीवों की ये पर्याप्ति पूर्ण नहीं होती, उनको 'अपर्याप्त' कहते हैं। अप-र्याप्त जीव दो प्रकार के होते हैं-एक निर्वृत्य पर्याप्तक, दूसरे

§ अर्थात् वे पुद्गल परमाणु जिनसे भाषा या वचन बनते हैं।

‡ अर्थात् वे पुद्गल परमाणु जिनसे द्रव्य मन बनता है।

लब्ध्यपर्याप्तक। जिनकी पर्याप्ति अभी तक पूर्ण नहीं हुई है, किन्तु अन्तर्मुहूर्त के बाद नियमसे पूर्ण हो जावेगी, उनको 'निर्वृत्यपर्याप्तक' कहते हैं। और जिसकी अभीतक भी पूर्ण नहीं हुई है, और पूर्ण होने से प्रथम ही उसका मरण भी होजावेगा। अर्थात् अपनी आयु के काल में जिसकी पर्याप्ति कभी पूर्ण न हो, उसको 'लब्ध्य पर्याप्त' कहते हैं।

सम्पूर्ण पर्याप्तियों का आरम्भ तो युगपत् होता है, किन्तु उनकी पूर्णता क्रम से होती है। इनका काल यद्यपि पूर्व २ (पहिले) की अपेक्षा उत्तरोत्तर का कुछ२ अधिक है, तथापि सामान्य की अपेक्षा सबका अन्तर्मुहूर्त मात्र ही काल है, अर्थात् एक साथ सम्पूर्ण पर्याप्तियों के प्रारम्भ होने के बाद अन्तर्मुहूर्त कालमें आहारपर्याप्ति पूर्ण होती है, और उससे असंख्यातभाग अधिक काल में शरीर पर्याप्ति ‡पूर्ण होती है। इसी प्रकार आगे२ की पर्याप्तिके पूर्ण होनेमें पहले पहले की अपेक्षा कुछ२ अधिक अधिक काल लगता है, तथापि वह अन्तर्मुहूर्त मात्र ही हैं। सब पर्याप्ति अन्तर्मुहूर्त में ही पूर्ण हो जाती हैं, प्रारम्भ सब का एक साथ होता है। असंख्यात समय प्रमाण अन्तर्मुहूर्त के भी असंख्यात भेद हैं। क्योंकि असंख्यात के भी असंख्यात भेद होते हैं, इसलिये सम्पूर्ण पर्याप्तियों के समुदाय का काल भी अन्तर्मुहूर्त है, और पृथक् २ पर्याप्ति का काल भी अन्तर्मुहूर्त ही है। पर्याप्त नाम कर्म के उदय से जीव अपनी अपनी पर्याप्तियों से पूर्ण होता है, तथापि जबतक उसकी शरीर पर्याप्ति पूर्ण नहीं हुई है, तब तक उसको 'पर्याप्त' नहीं कहा जाता, किन्तु 'निर्वृत्य पर्याप्त' कहते हैं, अर्थात् इन्द्रिय, श्वासोश्वास, भाषा,

‡ त्रयाणां शरीराणां षण्णां पर्याप्तीनां योग्य पुद्गल ग्रहण माहारः। स. सि.

और मन, इन पर्याप्तियों के पूर्ण नहीं होने पर भी यदि शरीर पर्याप्ति पूर्ण हो गई है, तो वह जीव पर्याप्त ही है, किन्तु उस से पहले 'निर्वृत्य पर्याप्त' कहलायगा ।

लब्ध्य पर्याप्तक जीवों का अन्तर्मुहूर्त में ही नियम से मरण होजाता है । और इन जीवों की जघन्य उत्कृष्ट दोनों ही प्रकार की स्थिति अन्तर्मुहूर्त मात्र होती है । तथा यह अन्तर्मुहूर्त एक श्वास के अठारहवें भाग प्रमाण समझना चाहिये । इस प्रकार के लब्ध्य पर्याप्तक जीव एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय पर्यन्त सभी में पाये जाते हैं । एक लब्ध्य पर्याप्तक जीव एक अन्तर्मुहूर्त में निरन्तर छयासठ हजार तीन सौ छत्तीस (६६३३६) जन्म और इतने ही मरण कर सकता है, इस से अधिक नहीं कर सकता । जिसमें से एकेन्द्रियके ६६१३२ भव, दोइन्द्रिय के ८० भव, तीन इन्द्रियके ६० भव, चार इन्द्रिय के ४० भव, और पंचेन्द्रिय लब्ध्य पर्याप्तक के २४ भव, धारण कर सकता है । यह कुल मिलाकर ६६३३६ लब्ध्य पर्याप्तक के भव होजाते हैं । यह संख्या अधिक से अधिक समझना चाहिये । एकेन्द्रिय जीवों के जो ऊपर अभी लब्ध्य पर्याप्तक के ६६१३२ भव बतलाये हैं, वे पांचों प्रकार के स्थावरों में इस प्रकार विभाजित किये गये हैं । स्थूल पृथिवो कायिक, सूक्ष्म पृथिवी कायिक, स्थूल जलकायिक, सूक्ष्म जल कायिक, स्थूल वायु कायिक, सूक्ष्म वायुकायिक, स्थूल अग्नि कायिक, सूक्ष्म अग्नि कायिक, स्थूल साधारण वनस्पति, सूक्ष्म साधारण वनस्पति, और प्रत्येक वनस्पति, ये ग्यारह प्रकार के स्थावर जीव स्थूल सूक्ष्म के भेद से होते हैं, इनमें 'प्रत्येक वनस्पति' का भेद मिला देने से ग्यारह भेद होजाते हैं । इन ग्यारह प्रकार के लब्ध्य पर्याप्तकों में से प्रत्येक के ६०१२ भव होते हैं । इस लिये ११ को ६०१२ से गुणा किया जावे

तो एकेन्द्रिय लब्ध्य पर्याप्तक जीवों के उत्कृष्ट भवों का प्रमाण उपयुक्त (६६१३२) हो जाता है।

शास्त्रों में केवलियों को भी समुद्घात अवस्था में 'अपर्याप्तक' बतलाया गया है। यहां पर पाठकों को यह शंका अवश्य होगी, कि केवली भगवान् के जब पर्याप्ति नाम कर्म का उदय है, तथा उनके काययोग भी मौजूद हैं, तो उनको फिर अपर्याप्तक कैसे कहा गया? इसका समाधान इस प्रकार है—कि यद्यपि उनके काय योग आदि सभी मौजूद हैं, तथापि उनके कपाट, प्रतर, लोक पूर्ण, इन तीनों ही समुद्घात अवस्था में योग पूर्ण नहीं हैं, इसी लिये उनको गौणता से और योगों के अपूर्ण होने से अपर्याप्त कहा गया है। मुख्यता से अपर्याप्त अवस्था जहांपर पाई जाती है, ऐसे प्रथम, द्वितीय, चतुर्थ, छट्ठा, ये चार गुणस्थान हैं।

प्रथम गुणस्थान में लब्ध्य पर्याप्त, निवृ त्य पर्याप्त, और पर्याप्त ये तीनों ही अवस्थायें होती हैं, दूसरे, चौथे, और छट्टे, गुणस्थान में निवृ त्य पर्याप्त, और पर्याप्त ये दो अवस्था होती हैं। शेष सब गुणस्थानों में पर्याप्त दशा होती है, छट्टे गुणस्थान में जो निवृ त्य पर्याप्त अवस्था बतलाई हैं, वह आहारक मिश्र योग की अपेक्षा से समझना चाहिये। दूसरे को आदि लेकर छह नरक, और भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क, ये तीन प्रकारके देव, तथा सम्पूर्ण स्त्रियां इनको अपर्याप्त दशा में सम्यक्त्व नहीं होता। एवं सासादन सम्यग्दृष्टि अपर्याप्त नारकी नहीं होता, अर्थात् सासादन सम्यग्दृष्टि मरण करके नरक को नहीं जाता।

अब जन्म के विषय में वर्णन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

सम्मूर्च्छन गर्भोपपादा जन्म ॥३१॥

सूत्रार्थः—(जन्म) नवीन शरीर का धारण करना 'जन्म' कहलाता है, वह (सम्मूर्च्छन गर्भोपपादा) सम्मूर्छन, गर्भ, और उपपाद, ऐसा तीन प्रकार का होता है ।

विशेषार्थः—'मूर्च्छन'§ शब्दका अर्थ अवयवोंका बन जाना है, तीनों लोकों में योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भाव, रूप सामग्री के निमित्त से चारों तरफ से (चारों ओर के पुद्गल परमाणुओं का मिल कर शरीर रूप होजाना) शरीर के अवयवों का बनजाना है उसको 'समूर्च्छन जन्म' कहते हैं । इस जन्म में माता के खून और पिता के वीर्य की आवश्यकता नहीं होती । लोक में भरे हुये पुद्गल परमाणु इकट्ठे होकर शरीर रूप परिणत होजाते हैं, जहांपर पिता के वीर्य और माता के रज (खून) को मिलकर शरीर बनता है,उसका नाम †'गर्भ जन्म' है, अथवा माता के द्वारा भक्षण किये गये आहार को अपना आहार बनाया जाय, एवं उस आहार का जहां पर मिश्रण हो, उसे 'गर्भ' कहते हैं । जिसमें आकार उत्पन्न हो वह उपपाद‡ जन्म कहलाता है । जिस स्थान में देव और नारकी उत्पन्न होते हैं, उस स्थान की यह विशेष संज्ञा जानना चाहिये अर्थात् देवों के उत्पन्न होने की शय्या और नारकियों के उत्पन्न होने की उष्ट्रकादि स्थानों को 'उपपाद' कहते हैं, उनमें उत्पन्न होने को भी 'उपपाद' कहते हैं । इस प्रकार संसारी जीवोंके

§ त्रिषु लोकेषु ऊर्ध्वमधास्तिर्यक् च देहस्य समन्ततो मूर्च्छनं सम्मूर्च्छन-मवयव प्रकल्पनम् । स. सि.

† स्त्रियां उदरे शुक्र शोणितयोर्गरणम् मिश्रणं गर्भः । मात्रोपभुक्ताहार गरणाद्वा गर्भः । स. सि.

‡ उपेत्योत्पद्यते ऽस्मिन्निति उपपादः । देव नारकोत्पत्ति स्थान विशेष संज्ञा । स.सि.

जन्म के ये तीन भेद हैं। एकेन्द्रिय से लेकर चार इन्द्रिय पर्यन्त सभी जीवोंका 'सम्मूर्च्छन' जन्म ही होता है। देव और नारकियों का 'उपपाद' जन्म होता है। समूर्च्छन और उपपाद जन्ममें नियत और अनियत स्थानकी अपेक्षा अन्तर समझना चाहिये। सम्मूर्च्छन जन्म का स्थान और आकार नियत नहीं है, किन्तु देव और नारकियों के उपपाद जन्म के स्थान और आकार नियत हैं। तथा सम्मूर्च्छन और गर्भ जन्मके द्वारा उत्पन्न हुवा शरीर स्थूल (औदारिक) होता है, किन्तु उपपाद जन्म के द्वारा उत्पन्न हुवा शरीर सूक्ष्म (वैक्रियिक) होता है। पशु पक्षियों और मनुष्यों के जन्मको 'गर्भ जन्म' कहते है। अब योनियों के वर्णन करने के लिये सूत्र कहते हैं—

सचित्त शीत संवृताः सेतराः मिश्राश्चैकशस्तद्योनयः ॥३२॥

सूत्रार्थः—(सचित्त शीत संवृताः) सचित्त, शीत, संवृत, और (सेतराः) इनसे उलटी अचित्त, उष्ण, विवृत, (च) और (मिश्राः) मिली हुई, अर्थात् सचित्ताचित्त, शीतोष्ण, संवृतविवृत, इस प्रकार (एकशः) क्रम से (तद्योनयः) उन सम्मूर्च्छनादि जन्मों की नव योनियां अथवा उत्पत्ति स्थान हैं।

विशेषार्थः—'योनि' का अर्थ 'उत्पत्ति स्थान' है, उसके ये नव भेद हैं—

१—जीव का वह उत्पत्ति स्थान जो चेतना सहित हो, अथात् आत्म प्रदेशों से युक्त पुद्गल पिंड को 'सचित्त§' कहते हैं। जैसे-साधारण शरीर वाले जीवों के एक ही शरीर में बहुत जीव हैं।

§ आत्मन श्चैतन्य विशेष परिणामश्चित्तम्। सह चित्तेन वर्तते इति सचित्तः। स. सि.

इससे परस्पर आश्रय से सचित्त हैं।

२—जीवका वह उत्पत्ति स्थान जहां पुद्गलस्कन्ध अथवा पुद्गल प्रचय अचित्त हों। अर्थात् आत्म प्रदेशों से रहित पुद्गलपिंड को 'अचित्त' कहते हैं। जैसे देव नारकियों के उपजने के स्थान अचित्त होते हैं।

३—जीव का वह उत्पत्ति स्थान जहां चेतन और अचेतन दोनों ही प्रकार के पुद्गल स्कन्ध हों, जैसे-जो जीव गर्भ से उत्पन्न गर्भज हैं, वे 'सचित्ताचित्त' स्वरूप मिश्र योनिके धारक हैं, क्योंकि उन के उत्पत्ति के स्थान स्वरूप माता के उदर में वीर्य और रज *अचित्त पदार्थ हैं, उनका सम्बन्ध सचेतन माता की आत्मा के साथ है। इस विषय में किसी २ का कहना है, कि माता का रज सचित्त है, और पिता का वीर्य अचित्त है। अतएव दोनों (मिलकर) के संयोग से गर्भ जन्म वालों के मिश्र अर्थात् सचित्ताचित्त योनि होती है, तथा दूसरे किसी २ का कहना है, कि शुक्र (वीर्य) और शोणित (खून या माता के रज) दोनों ही अचित्त हैं, किन्तु योनि के प्रदेश सचित्त हैं, इस लिये उनके संयोग से मिश्र योनि हुवा करती है। मैंने ये उपर्युक्त तीनों ही मत पाठकों के सामने रख दिये हैं, इसमें कौनसा मत अधिक बलवान् है, इस पर पाठकों को विचार करना चाहिये। आशा है विद्वान् पाठक इस विषय पर गम्भीर विचार करके एक निश्चित निर्णय करेंगे, और साथ ही मुझे भी उस निर्णय की सूचना देंगे, जिस से कि भविष्य में इस विषय में एक निश्चित मत प्रगट किया जा सके। सूचित करने वाले मित्रों का मैं आभारी होऊंगा।

---

* शुक्र शोणित मचित्तं, तदात्मना चित्तवता मिश्रणान्मिश्रयोनिः ॥
स० सि०

४—जीव का वह उत्पत्ति स्थान जहां पर शीत स्पर्श रूप पुद्गल हों, जैसे-किसी २ देव और नारकियों के शीत रूप पुद्गल के स्कन्ध ही उत्पत्ति का स्थान है। देव नारकियों के बहुतों के उत्पत्ति स्थान उष्ण होते हैं, और बहुतों के शीत ही होते हैं, अतः वे शीत योनि वाले भी होते हैं, और उष्ण योनि वाले भी होते हैं।

५—जीव का वह उत्पत्ति स्थान जहां पर केवल उष्ण (गर्म) स्पर्श रूप पुद्गल हों, जैसे-अग्नि कायिक वा तैजस कायिकों के उत्पत्ति स्थान उष्ण रूप ही होते हैं।

६—जीव का वह उत्पत्ति स्थान जहां पर शीतोष्ण (ठंडे और गर्म) के मिश्र (मिले हुये) रूप पुद्गल हों, अर्थात् देव और नारकी तथा अग्नि कायिक जीवों से जो भिन्न जीव हैं, उनमें बहुत से शीत योनि वाले जीव हैं;और बहुत से उष्ण योनि वाले जीव हैं। तथा बहुत से शीत उष्ण स्वरूप मिश्र योनि वाले जीव होते हैं। इस प्रकार उन में शीत, उष्ण, और शीतोष्ण, तीनों प्रकार की योनियों का होना संभव है।

७—जीव का वह उत्पत्ति स्थान जिसके पुद्गल ढके हों। जैसे-देव, नारकी, और एकेन्द्रिय जीव 'संवृत योनि' वाले जानना चाहिये, जिस स्थान पर इनकी उत्पत्ति होती है, वह स्थान ढका हुआ होता है, उघड़ा हुआ नहीं रहता।

८—जीव का वह उत्पत्ति स्थान जिसके पुद्गल स्कन्ध प्रगट स्वरूप से दृष्टिगोचर हों, जैसे जो जीव दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, और चार इन्द्रिय होते हैं। वे 'विवृत योनि' वाले समझना चाहिये। क्योंकि उनका उत्पत्ति स्थान खुला हुआ रहता है। 'विवृत' शब्द का अर्थ खुला हुवा, और 'संवृत' का अर्थ ढका हुवा है।

९—जीव का वह उत्पत्ति स्थान जिसके पुद्गल स्कन्ध कुछ ढके

हों, और कुछ खुले हों, अर्थात् जो जीव गर्भज हैं, उनका उत्पत्ति स्थान कुछ ढका हुवा होता है, और कुछ खुला हुवा रहता है।

इन उपर्युक्त नव योनियों के यदि विस्तार से भेद किये जावें तो चौरासी लाख भेद होजाते हैं, अर्थात् जिस काय की जाति के जितने भेद हैं, उतने ही उसकी योनि के भेद होते हैं, जैसे पृथिवी काय के सात लाख भेद हैं, उसकी सात ही लाख योनि के भेद होते हैं, इसी प्रकार अपनी २ जाति के भेद से अन्य योनियों के भेद समझने चाहिये। किन्तु वे भेद अपने मूल भेद को छोड़ कर नहीं रहते हैं। चौरासी लाख योनियों का विवरण इस प्रकार शास्त्रों में बताया गया है—

नित्यनिगोद, और इतरनिगोद, पृथिवी कायिक, जलकायिक, अग्नि कायिक, वायु कायिक, इन प्रत्येक की सात २ लाख योनियां हैं। वनस्पति की दश लाख, दो इन्द्रिय जीव, तीन इन्द्रिय जीव, चार इन्द्रिय जीव, में से प्रत्येक की दो दो लाख, इस प्रकार विकलेन्द्रियों की कुल मिलकर छह लाख हुईं। देव, नारकी, और पंचेन्द्रिय तिर्यंच, इनमें से प्रत्येक की चार २ लाख, मनुष्यों की चौदह लाख, इस प्रकार सब मिलाकर चौरासी‡ लाख योनियां हो जाती हैं।

मूल में योनि के दो भेद हैं। आकार योनि, और गुणयोनि। यहां पर ये गुण योनि की अपेक्षा से उपर्युक्त नो भेद दिखाये गये हैं। आकार योनि के तीन भेद हैं, शंखावर्त, कूर्मोन्नत, और वंश पत्र, शंखावर्त, योनि में गर्भ ही नहीं ठहरता है, कूर्मोन्नत योनि में तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलभद्र, और उनके भाइयों, के सिवाय

‡ णिच्चिदरधादुसत्त य तरु दस वियलिंदियेसु छच्चेव।
सुरणिरयतिरिय चउरो चौद्दस मणुएसदसहस्सा ॥ गो. सा.

अन्य कोई उत्पन्न नहीं होता है, और वंशपत्र योनि में बाक़ी के गर्भज जन्म वाले सब जीव पैदा होते हैं। जिस के भीतर शंख के समान चक्कर पड़े हों, उसको 'शंखावर्त योनि' कहते हैं। जो कछुआ की पीठ की तरह उठी हुई हो, उसको 'कूर्मोन्नत योनि' कहते हैं। और जो बांस के पत्ते के समान लम्बी हो, उसको 'वंशपत्र योनि' समझना चाहिये।

अब किन २ जीवों के कौन २ जन्म होते हैं? यह बताने के लिये सूत्र कहते हैं—

जरायुजांडजपोतानां गर्भः ॥३३॥

सूत्रार्थः—(जरायुजांडजपोतानां) जरायुज, अंडज, और पोत, इन तीन प्रकार के जीवों का (गर्भः) गर्भ जन्म होता है।

विशेषार्थः—जाल के समान चारों ओर से जो जीव को ढकने वाला है, और जिसके चारों ओर मांस रक्त हो, वह 'जरायु'‡ कहलाता है। वे एक प्रकार की थैली से लिपटे हुये पैदा होते हैं, जो जरायु से पैदा होते हैं, उनको 'जरायुज' कहते हैं। माता के रुधिर और पिता के वीर्य से बने हुये नख की त्वचा के समान कठिन गोल २ आवरण (ढकन) को 'अंडा'† कहते हैं, और जो अंडे से उत्पन्न होते हैं, उनको 'अंडज' कहते हैं। तथा जिनके ऊपर जरा वा अंग कुछ भी आवरण नहीं होता है, जिनके शरीर के अवयव माता के उदर से निकलते ही पूर्ण होते हैं, एवं जन्म

‡ यज्जालवत्प्राणि परिवरणं विततं मांस शोणितं तज्जरायुः। स. सि.

† यन्नखत्वक्सदृश मुपात्त काठिन्यं शुक्रशोणित परिवरणं परिमण्डलं तदण्डम्। स. सि.

होते ही जो चलने फिरने लगते हैं, उन्हें 'पोत'§ कहते हैं। शेर, बिल्ली हिरण, ये 'पोत जन्म' वाले समझना चाहिये। मनुष्य, पशु, आदि को 'जरायुज' मानना चाहिये, और चील, कौवा, आदि पक्षियों को 'अंडज' कहते हैं। इन तीनों में जरायुज को उत्कृष्ट माना गया है, क्योंकि जरायुज जीवों में बोल चाल अध्ययन आदि की विशेषता है। चक्रवर्ती, वासुदेव, आदि प्रभावशाली और पदवी धारक पुरुष जरायुज जीवों में ही उत्पन्न होते हैं। मोक्ष मार्ग स्वरूप सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय की योग्यता जरायुज जीवों के ही होती है, 'पोत' जीवों की अपेक्षा 'अंडज' जीव उत्कृष्ट माने गये हैं। क्योंकि अंडजों में शुक (तोता) सारिका (मैना) आदि पक्षी हैं, उनमें अक्षरों की उच्चारणादि क्रिया आदि की विशेषता है, वे स्पष्टतया उच्चारण करने में कुशल होते हैं। इन्हीं विशेषताओं के कारण ऊपर 'सूत्र' में सब से प्रथम जरायुज, फिर अंडज, और सब से पीछे पोत को ग्रहण किया गया है, क्योंकि 'पोत' जन्म वालों में कोई विशेषता नहीं होती। इन तीनों प्रकार के जीवों का गर्भ जन्म ही होता है। अर्थात् ये तीनों ही प्रकार के जीव माता पिता के संयोग से पैदा होते हैं। माता पिता के बिना इन की उत्पत्ति असंभव होती है। इन तीनों ही प्रकार के जीवों की अर्थात् गर्भ जन्य वालों की माता के सचित्त रज (रुधिर) और पिता के अचित्त वीर्य मिलने से 'मिश्र योनि' समझना चाहिये। मिश्र योनि के विषय में ऊपर योनियों के प्रकरण में कथन किया जा चुका है।

उपपाद जन्म किन जीवों का होता है? यह बताने के लिये सूत्र कहते हैं—

§ किंचित्परिवरण मन्तरेण परिपूर्णावयवो योनि निर्गत मात्र एव परिस्पन्दादि सामर्थ्योपेतः पोतः। स. सि.

देव नारकाणा मुपपादः ॥ ३४ ॥

सूत्रार्थः—(देव नारकाणां) चार प्रकार के देवों का, और सातों नरकों के नारकियों का (उपपादः) उपपाद जन्म होता है। (चार प्रकार के देवों का विस्तृत वर्णन चौथे अध्याय में, और नारकियों का खुलासा कथन, तीसरे अध्याय में किया गया है)।

विशेषार्थः—भवन वासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क, और कल्पवासी, इन चार प्रकार के देवों का और सातों नरकों के नारकियों का 'उपपाद' जन्म होता है। 'उपपाद' जन्म का स्वरूप पहले बता चुके हैं। उपपाद जन्म वालों की 'अचित्त योनि' होती है, क्योंकि वहां पर माता पिता के रज वीर्य का संयोग नहीं है। उपपाद जन्म में शीत और उष्ण दो प्रकार की योनि होती हैं, शेष जन्मों में शीत, उष्ण, मिश्र, तीनों प्रकार की योनियां होती हैं। उपपाद जन्म वालों की तथा एकेन्द्रिय जीवोंकी योनि संवृत (ढकी हुई) ही होती है, और विकल त्रय (दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय जीव) जीवों की विवृत्त (खुली हुई) ही योनि होती है, और गर्भज जीवों की योनि नियम से मिश्र (संवृत विवृत की अपेक्षा) होती है। पंचेन्द्रिय सम्मूर्छन जीवों की विकलेन्द्रियों की तरह विवृत योनि हुवा करती है।

अब क्रमानुसार सम्मूर्छन जन्म वालों का वर्णन करने के लिये सूत्र कहते हैं—

शेषाणां सम्मूर्छनम् ॥३५॥

सूत्रार्थः-(शेषाणां) शेष जीवों का अर्थात् गर्भ, उपपाद जन्म वालों से अतिरिक्त जीवों का (सम्मूर्छनम्) सम्मूर्छन जन्म होता है। भावार्थ-जरायुज, अंडज, पोतज, नारकी, और देवों के अति-

रिक्त बाक़ी सब जीवों का 'सम्मूर्छन जन्म' होता है। सम्मूर्छन जन्म का स्वरूप पहले बता चुके हैं।

देव गति और नरक गति में नियम से उपपाद जन्म ही होता है, मनुष्य और तिर्यंचों में गर्भ और सम्मूर्छन दोनों ही प्रकार के जन्म होते हैं। किन्तु लब्ध्य पर्याप्तक मनुष्य, और एकेन्द्रिय से लेकर असैनी पंचेन्द्रिय पर्यन्त के जीवों का नियम पूर्वक सम्मूर्छन जन्म ही होता है। कर्म भूमिया पंचेन्द्रिय तिर्यंच, गर्भज तथा सम्मूर्छन ही होते हैं। तिर्यंचों में जो भोग भूमिया तिर्यंच हैं, वे गर्भज ही होते हैं, और जो पर्याप्त मनुष्य हैं, वे भी गर्भज ही होते हैं। देव, नारकी, पर्याप्त, और निवृत्य पर्याप्त ही होते हैं। और चक्रवर्ती की रानी आदि को छोड़कर शेष आर्य खंड की स्त्रियों की योनि, कांख, स्तन, मल, मूत्र, आदि में उत्पन्न होनेवाले सम्मूर्छन मनुष्य लब्ध्य पर्याप्तक ही होते हैं।

योनियों का स्वरूप बताने के साथ ही यहां पर पाठकों की ज्ञान वृद्धि के हेतु कुलों का भी वर्णन किया जाता है—शरीर के भेद को कारण भूत, नो कर्म वर्गणा के भेदको 'कुल' कहते हैं—समस्त जीवों के समस्त कुलों की संख्या, एक कोडाकोडी, सतानवे लाख, पचासहजार, कोटि हैं। अर्थात् सम्पूर्ण कुलोंकी संख्या एक कोडि सत्तानवे लाख पचास हजार को एक कोटि से गुणा करने पर जितना लब्ध आवे उतनी है अर्थात–१९७५०००००००००० प्रमाण है। भिन्न २ जीवों की अपेक्षा से कुलों की संख्या इस प्रकार है—

पृथिवी काय के बाईस लाख कुल कोटि हैं, जल काय के सात लाख कुल कोटि, अग्नि काय के तीन लाख कुल कोटि, वायु-काय के सात लाख कुल कोटि, जलचरों के कुल साढ़े बारह लाख

कोटि, पक्षियों के बारह लाख कोटि, पशुओं के दस लाख कोटि, छाती के सहारे चलने वाले जीव दुमुही, सर्प, आदि के नव लाख कोटि कुल हैं। देव, नारकी, तथा मनुष्य, इन के कुल क्रम से छब्बीस लाख कोटि, पच्चीस लाख कोटि, तथा बारह लाख कोटि, समझना चाहिये। इन सब की सामूहिक संख्या का जोड़ ऊपर बता दिया गया है।

उपर्युक्त जन्मों के धारण करने वाले जीवों के शरीर कितने प्रकार के होते हैं? और उनके क्या २ लक्षण हैं? यह बताने के लिये सूत्र कहते हैं—

औदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि ॥३६॥

सूत्रार्थः—इन सब जीवों के (शरीराणि) शरीर (औदारिक वैक्रियिकाहारक तैजस कार्मणानि) औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस, और कार्माण, इस तरह पांच प्रकार के होते हैं।

विशेषार्थः—जो जीर्ण होकर बिखर जाता है, उसको 'शरीर'§ कहते हैं। औदारिकादि पांचों ही शरीरों में यह स्वभाव पाया जाता है। वे यथायोग्य समय पाकर आत्मा से सम्बन्ध छोड़ कर पौद्गलिक वर्गणा रूप में इधर ऊधर बिखर जाते हैं। १—औदारिक शरीर नाम कर्म का उदय होने पर जो उदार (स्थूल) पुद्गल द्रव्य के द्वारा बनता है, वह 'औदारिक शरीर' है, मनुष्य और तिर्यंचों का शरीर वैक्रियिकादि शरीरों की अपेक्षा स्थूल है, इसलिये इसको उदार (स्थूल) कहते हैं। जो उदार (स्थूल) पुद्गल से उत्पन्न हो, वह 'औदारिक शरीर' कहलाता है। २—वैक्रियिक शरीर नाम कर्म का उदय होने पर जो विक्रया और अणिमा, महिमादिक

§ शीर्यन्ते इति शरीराणि।

अष्ट ऋद्धियों एवं नाना प्रकारके गुण तथा ऋद्धियों से युक्त पुद्गल वर्गणाओं के द्वारा बनने वाला देव तथा नारकियों के शरीर को §'वैक्रियिक शरीर' कहते हैं। ३—आहारक शरीर नाम कर्म का उदय होने पर विशिष्ट प्रयोजन के सिद्ध करने में समर्थ शुभतर विशुद्ध पुद्गल वर्गणाओं के द्वारा जो बनता है, जिसकी स्थिति अन्तर्मुहूर्त मात्र है, उसको 'आहारक शरीर'‡ कहते हैं। यह आहारक शरीर असंयम के परिहार तथा संदेह को दूर करने के लिये छट्ठे गुणस्थानवर्ती मुनि के होता है। ४—'तेजस्' शब्द का अर्थ 'अग्नि' है। तैजस शरीर नाम कर्म के उदयसे तेजो गुणयुक्त पुद्गल वर्गणाओं के द्वारा जो बनता है, उसको 'तैजस शरीर' कहते हैं। यह तैजस शरीर लब्धि तैजस, और अलब्धि तैजस के भेद से दो प्रकार का होता है, लब्धि तैजस शरीर, शुभ, और अशुभ, दो तरह का है। जिसको 'तैजस लब्धि' प्राप्त है, वह रोष, क्रोध, आदि के वशीभूत होकर अपने शरीर के बाहर तैजस पुतला निकालता है, वह उष्ण गुण युक्त होने के कारण दूसरे का दाह (जलाना) करने में समर्थ होता है, उसको 'अशुभ तैजस' कहते हैं। यह शाप देने आदि अशुभ क्रिया करने में समर्थ होता है। प्रसन्न होने पर वही तैजस शरीर का पुतला शीत गुण युक्त निकला करता है, वह दूसरों का अनुग्रह (कल्याण) करने में समर्थ होता है। इसको 'शुभ तैजस शरीर' कहते हैं। दूसरा अलब्धि रूप तैजस शरीर पाचन शक्ति युक्त होता है, वह भक्षण

§ अष्ट गुणैश्वर्य योगादेकानेकाणुमहच्छरीर विविध करणं विक्रिया, सा प्रयोजनमस्येति वैक्रियिकम्। स० सि०

‡ सूक्ष्म पदार्थ निर्ज्ञानार्थम संयम परिजिहीर्षया वा प्रमत्त संयतेना-ह्रियते निर्वर्त्यते तदित्याहारकम्॥ स० सि०

किये गये आहार को पचाने में समर्थ होता है, अष्ट प्रकार के कर्मों के समूह को 'कार्माण शरीर' कहते हैं।

औदारिक शरीर अत्यन्त स्थूल होने के कारण इन्द्रियों का विषय है, वैक्रियिक शरीर में अनेक प्रकार के स्थूल सूक्ष्म, हलका भारी, इत्यादि विकार रूप होने की योग्यता होती है आहारक शरीर सूक्ष्म पदार्थ के निर्णय के लिये अथवा तत्वों में कोई सूक्ष्म शंका होने पर केवली वा श्रुतकेवली के निकट जाने के लिये छठे गुण स्थानवर्ती मुनि के मस्तक में से जो एक हाथ का पुतला निकलता है, उसको 'आहारक शरीर' समझना चाहिये। अपने क्षेत्र में केवली तथा श्रुत केवली का अभाव होने पर किन्तु दूसरे क्षेत्र में जहां पर कि औदारिक शरीर से उस समय पहुंच नहीं सकता, तप कल्याणक आदि के होने पर, और जिन देव, तथा जिन चैत्यालय की वन्दना के लिये भी 'आहारक ऋद्धि' को प्राप्त, मुनि के आहारक शरीर उत्पन्न होता है। यह आहारक शरीर रसादिक धातु और संहनन (हड्डी) से रहित समचतुरस्र संस्थान से युक्त चन्द्रकान्त के समान श्वेत,एक हस्त प्रमाण वाला, शुभ नाम कर्म के उदय से उत्तम शरीर में प्रगट होता है। इस आहार शरीर के द्वारा न तो किसी दूसरे पदार्थ का, और न दूसरे पदार्थ के द्वारा इस शरीर का ही व्याघात होता है। तथा इसको जघन्य और उत्कृष्टस्थिति अन्तर्मुहूर्तमात्र है। आहार शरीर पर्याप्ति के पूर्ण होने पर कदाचित् आहारक ऋद्धि वाले मुनि का मरण भी हो सकता है।

तैजस शरीर तेज का कारण होता है। ज्ञानावरणादि आठ कर्मों का जो कार्य हो, अथवा कर्मों का समूह हो, उसको 'कार्माण शरीर' कहते हैं। औदारिक शरीर की जघन्य स्थिति अन्त-

मुहूर्त§ और उत्कृष्ट तीन ‡पल्य की है। वैक्रियिक शरीर की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट तेतीस सागर प्रमाण है। तैजस और कार्माण शरीरकी स्थिति अभव्योंकी अपेक्षा अनादि अनन्त, और भव्यों की अपेक्षा अनादि सान्त है। यह बात सन्तान क्रम के अनुरोध से और भव्यता की अपेक्षा से जानना चाहिये। अन्यथा अनन्त भव्य भी ऐसे हैं, जो कि अनन्त काल में भी मुक्त न होंगे।

औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, और तैजस नाम कर्म के उदय से होने वाले चार शरीरों को 'नो कर्म' कहते हैं। औदारिक शरीर के सिवाय अन्य चारों शरीरों का ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा क्यों नहीं होता? यह बताने के लिये सूत्र कहते हैं—

परं परं सूक्ष्मम् ॥ ३७ ॥

सूत्रार्थ:—(परं परं) औदारिक से अगले २ शरीर (सूक्ष्मम्) सूक्ष्म होते हैं।

विशेषार्थ:—औदारिक से वैक्रियिक, वैक्रियिक से आहारक, आहारक से तैजस, और तैजस से कार्माण शरीर सूक्ष्म है। पहले पहले शरीरों की अपेक्षा, आगे आगे के शरीरों में प्रदेश

§ वैक्रियिक शरीर की जघन्य स्थिति जो अन्तर्मुहूर्त की बताई है, वह मनुष्य तिर्यंचों के लब्धि प्रत्यय वैक्रियिक शरीर की अपेक्षा से है। अन्यथा देव नारकियों की तो कम से कम दश हजार वर्ष की आयु ही होती है। अतएव देव नारकियों के अन्तर्मुहूर्त की स्थिति संभव नहीं है।

‡ देव कुरु तथा उत्तर कुरु भोग भूमि में उत्पन्न होने वाले तिर्यंच और मनुष्यों के औदारिक शरीर की उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्य की होती है। प्रत्येक स्थान पर तीन पल्य की स्थिति न समझना चाहिये।

अधिक २ हैं, अवगाहना की अधिकता नहीं है। औदारिक से वैक्रियिक शरीर के असंख्यात गुणे प्रदेश हैं। वैक्रियिक से आहारक शरीर के प्रदेश असंख्यात गुणे होते हैं, किन्तु उनका परिमाण (आकार की अपेक्षा) अधिक नहीं हैं। जिस प्रकार एक लोहे के पिंड में अधिक परमाणु रहते हैं, परन्तु आपस में बन्ध की सघनता से उनका परिमाण अल्प ही रहता है। तथा रुई के पिंड में कम परमाणु होते हैं। परन्तु उनका संयोग आपस में शिथिल होता है, इसलिये उसका परिमाण अधिक होता है। उसी प्रकार यद्यपि उत्तरोत्तर शरीर अधिक अधिक प्रदेश वाले हैं। परन्तु बंध की सघनता से उनका परिमाण अधिक नहीं है। आगे आगे के शरीर यदि उत्तरोत्तर सूक्ष्म हैं, तो उनके प्रदेश भी कम होना चाहिये ? इस शंका की निवृत्ति के लिये सूत्र कहा जाता है—

प्रदेशतो ऽसंख्येय गुणं प्राक् तैजसात् ॥३८॥

सूत्रार्थः—(प्रदेशतः) प्रदेशों की अपेक्षा (तैजसात् प्राक्) तैजस शरीर से पहले पहले के शरीर (असंख्येय गुणं) असंख्यात गुणे हैं।

विशेषार्थः—औदारिक शरीर में जितने प्रदेश हैं, उनसे असंख्यात गुणे वैक्रियिक शरीर में प्रदेश हैं। और वैक्रियिक शरीर से असंख्यात गुणे आहारक शरीर में प्रदेश हैं। जो भिन्न भिन्न अंश रूप विभक्त हों, उन्हें 'प्रदेश' कहते हैं। अथवा जिनके द्वारा भिन्न भिन्न अंश किये जावें, उन्हें 'प्रदेश' कहते हैं। आकाश आदि द्रव्यों के क्षेत्र का विभाग प्रदेशों के द्वारा ही होता है। घट आदि पुद्गल द्रव्यों में वे अवयव रूप से रहते हैं, जिनको परमाणु कहते

हैं। आकाश के जितने क्षेत्र को पुद्गल का एक अविभागी परमाणु रोकता है, उसको 'प्रदेश'† समझना चाहिये। द्रव्यों के नापने के लिये प्रदेश एक प्रकार का सबसे छोटा पैमाना है, इसी पैमाने से द्रव्यों की नाप अर्थात् लम्बाई चौड़ाई का ज्ञान होता है। पुद्गल द्रव्य का नाप परमाणु से होता है, और पुद्गल के सिवाय अन्य अमूर्तिक द्रव्यों का नाप प्रदेश से हुवा करता है। यहां पर शरीरों के प्रकरण में 'प्रदेश' का अर्थ 'परमाणु' करना चाहिये। क्योंकि ये शरीर पौद्गलिक होते हैं, पुद्गल द्रव्यके नाप के लिये 'प्रदेश' शब्द का व्यवहार न करके 'परमाणु' का प्रयोग किया जाता है। तैजस शरीर से पहले २ शरीरों के अर्थात् औदारिक, वैक्रियिक, और आहारक शरीर, के प्रदेश एक दूसरे से असंख्यात असंख्यात गुणे अधिक अधिक हैं। परन्तु तैजस और कार्माण इन दो शरीरों में कुछ विशेषता है, उसी विशेषता को प्रगट करने के लिये सूत्र कहते हैं—

अनन्त गुणे परे ॥३९॥

सूत्रार्थः—(परे) शेष के दो शरीर अर्थात् तैजस और कार्माण शरीर (अनन्त गुणे) अनन्त गुणे परमाणु वाले होते हैं।

विशेषार्थः—आहारक शरीर में जितने परमाणु होते हैं, उससे अनन्त गुणे तैजस शरीर में परमाणु होते हैं। और तैजस शरीर से अनन्त गुणे परमाणु कार्माण शरीर में होते हैं। अनन्त के भी

---

† जावदियं आयासं अविभागी पुग्गलाणु वट्ठद्धं।
तं खु पदेसं जाणे सव्वाणुट्ठाण दाणरिहं ॥ 'द्रव्य संग्रहे',

यहां पर इस प्रकरण में 'प्रदेश' शब्द से अभिप्राय 'परमाणु' का है, स्कन्धों का नहीं है। क्योंकि स्कन्ध अनन्त परमाणुओं से बनते हैं।

अनन्त भेद होने से तैजस और कार्माण दोनों शरीरों को समान नहीं कहा जा सकता अर्थात् एक दूसरे से अनन्त गुणा अधिक समझना चाहिये । यहां पर अभव्योंका अनन्त गुणा और सिद्धोंका अनन्तवां भाग गुणाकार है । अतएव यहां पर यह सम्बन्ध है, कि प्रदेशों की अपेक्षा आहारक शरीर से तैजस शरीर अनन्त गुणा है, और तैजस शरीर से कार्माण शरीर अनन्त गुणा है । किन्तु फिर भी ये दोनों शरीर उत्तरोत्तर सूक्ष्म और सूक्ष्मतर हैं । अब तैजस और कार्माण शरीरों की अन्य विशेषता प्रगट करने के लिये सूत्र कहते हैं—

अप्रतीघाते ॥४०॥

सूत्रार्थः—तैजस और कार्माण ये दोनोंही शरीर अप्रतीघात हैं ।

विशेषार्थः—तैजस और कार्माण इन दोनों शरीरों का बलवान् मूर्तिमान पदार्थ से भी इनका रुकना नहीं होता है । अर्थात् मूर्तिक पदार्थ से मूर्तिक पदार्थ का रुकना 'प्रतीघात' कहलाता है। अग्नि का परिणमन सूक्ष्म है, इसलिये सूक्ष्म परिणमन के कारण वह लोहे के पिंड में भी बिना किसी रुकावट के प्रवेश कर जाती है। उसी प्रकार तैजस और कार्माण शरीर का परिणमनभी सूक्ष्म है । इसलिये वज्रपटल आदि कैसे भी कठिन पदार्थ क्यों न बीच में पड़े परन्तु फिर भी इन दोनों शरीरों का रुकना नहीं होता है । वे निरवच्छिन्न अर्थात् बिना किसी रोक टोक के वे प्रवेश कर जाते हैं । इसलिये तैजस और कार्माण दोनों शरीर 'अप्रतीघात' कहलाते हैं । लोक के अन्त पर्यन्त तैजस और कार्माण शरीरों का कहीं भी प्रतीघात अर्थात् रुकावट नहीं होती। वैक्रियिक और आहारक शरीरों का वैसा अप्रतीघात नहीं है । किन्तु उनका प्रतीघात होजाता

है। अर्थात् आहारक और वैक्रियिक शरीर रुक सकते हैं। और तैजस तथा कार्माण शरीर किसी भी कारण और कहीं पर नहीं रुक सकते हैं, क्योंकि आहारक शरीर की प्रकटता छट्ठे प्रमत्त गुणस्थानवर्ती मुनि के उस समय होती है, जब कि वह अपनी तत्त्व सम्बन्धी गूढ़ शंकाकी निवृत्तिके लिये केवली या श्रुतकेवली के पास जाता है। यह शंका केवली या श्रुतकेवली के बिना निवृत्ति नहीं होती है। केवली या श्रुतकेवली जहां पर विराजमान होते हैं, वहां पर जाकर उनके दर्शन मात्र से उनकी शंका दूर हो जाती है। फिर उसके बाद आहारक शरीर वापिस लौट आता है। केवलियों की स्थिति ढाई द्वीप के बाहर नहीं होती है, इसलिये आहारक शरीर का गमन अधिक से अधिक ढाई द्वीप पर्यन्त ही समझना चाहिये। मनुष्यों का वैक्रियिक शरीर मनुष्य लोक पर्यन्त ही गमन करता है, तथा देवों का भी वैक्रियिक शरीर त्रस नाली पर्यन्त गमन करता है। अतएव ये दोनों ही शरीर तैजस और कार्माण शरीरों के समान सर्वत्र अप्रतीघात नहीं है, इस सर्वत्र गमनागमन की विशेष विवक्षा से तैजस और कार्माण शरीरों को अप्रतीघात कहा गया है। आत्मा अनादि है और शरीर सादि है, अनादि और नित्य आत्मा का अनित्य शरीर के साथ सम्बन्ध किस कारण से है? इस शंका के निवारणार्थ सूत्र कहते हैं—

अनादि सम्बन्धे च ॥४१॥

सूत्रार्थः—ये दोनों शरीर आत्मा से (अनादि सम्बन्धे) अनादि काल से सम्बन्ध रखने वाले हैं। अर्थात् संसारी जीवों के ये दोनों शरीर नित्य ही साथ रहते हैं। (च) और सादि सम्बन्ध वाले भी हैं ॥४१॥

विशेषार्थ:—जब तक आत्मा का संसार में रहना होता है, तब तक बराबर इन शरीरों का उसके साथ सम्बन्ध रहता है, तथा सादि सम्बन्ध भी रहता है। सन्तान क्रम की अपेक्षा इन शरीरों का आत्मा से अनादि सम्बन्ध चला आरहा है, इससे पहले कभी ऐसा समय नहीं था, कि जब आत्मा शरीरों से रहित रहा हो, इसलिये कार्य कारण की अपेक्षा से अनादि सम्बन्ध है। और एक जीव के एक बार का प्राप्त किया हुवा शरीर अपनी स्थिति पूर्ण होने पर समाप्त होजाता है, फिर नवीन शरीर प्राप्त करता है, इस प्रकार इन नवीन नवीन शरीरों के प्राप्त होने और उन उनकी स्थिति समाप्त होजाने की विशेष अपेक्षा से इन शरीरों का सादि सम्बन्ध भी माना गया है। जिस समय बीज से वृक्ष और वृक्षसे बीज फिर बीज से वृक्ष, वृक्ष से बीज, इस प्रकार सामान्य रूप से कार्य कारण रूप सम्बन्ध की विवक्षा की जाती है, उस समय बीज और वृक्ष का कार्य कारण रूप अनादि सम्बन्ध माना जाता है। और जिस समय अमुक बीज से अमुक वृक्ष, अमुक वृक्ष से अमुक बीज, इस प्रकार विशेष रूप से कार्य कारण की विवक्षा मानी जाती है, उस समय बीज और वृक्ष का वह सम्बन्ध सादि (आदि सहित) माना जाता है। उसी प्रकार जिस समय आत्मा के साथ तैजस कार्माण शरीरों के निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध की सामान्य रूप से विवक्षा की जाती है, उस समय आत्मा और तैजस कार्माण शरीरों का अनादि सम्बन्ध है। क्योंकि अनादि काल से ऐसा कोई भी समय नहीं बीता, जिसमें तैजस और कार्माण शरीरों की आत्मा से जुदाई रही हो, और जिस समय अमुक तैजस, और कार्माण शरीर का अमुक अवस्था वाले आत्मा के साथ सम्बन्ध है, इस प्रकार विशेष विवक्षा है। उस समय उन

का आपस में निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध सादि है। इस प्रकार सामान्य और विशेष की अपेक्षा से आत्मा और तैजस कार्माण शरीरों का अनादि सादि दोनों प्रकार का सम्बन्ध युक्तियों से भले प्रकार सिद्ध हो जाता है।

शुद्ध आत्मा कभी तैजस कार्माण शरीर का कारण नहीं बनता, इसलिये कारण के अभाव से फिर तैजस कार्माण शरीरों का सम्बन्ध नहीं होसकता। अर्थात् सामान्य की अपेक्षा आत्मा के साथ तैजस और कार्माण शरीर का अनादि सम्बन्ध है, और विशेष की अपेक्षा से सादि सम्बन्ध है, क्योंकि एक बार का प्राप्त किया हुआ औदारिक शरीर, अधिक से अधिक तीन पल्य, और वैक्रियिक शरीर तेतीस सागर, आहारक शरीर अन्तर्मुहूर्त, तैजस शरीर छयासठ सागर, और कार्माण शरीर सामान्य से सत्तर कोड़ा कोड़ी सागर,से अधिक नहीं ठहर सकता। इसके बाद ये उपर्युक्त सभी शरीर अपनी २ स्थिति के पूर्ण होने पर छूट जाते हैं। परन्तु वे नवीन शरीरों को बांध करके छूटते हैं।

यदि तैजस कार्माण शरीरों का आत्मा से एकान्त से अनादि सम्बन्ध ही माना जावेगा, तो जिस प्रकार आकाश अनादि होने से उसका भी नाश (अन्त) नहीं होता, उसी प्रकार तैजस कार्माण शरीर का सम्बन्ध भी अनादि होने से उसका भी नाश न हो सकेगा, फिर वह कार्य कारण सम्बन्ध भी न रहेगा। इस तरह से मोक्षका भी अभाव होजायगा। यद्यपि इन दोनों शरीरोंका सम्बन्ध अनादि है, परन्तु ये सभी संसारी जीवों के होते हैं, या किसी किसी जीवों के होते हैं ? इसके उत्तर में सूत्र कहते हैं—

सर्वस्य ॥४२॥

सूत्रार्थः—तैजस और कार्माण शरीर सामान्य रूप से समस्त संसारी जीवों के होते हैं, अर्थात् ये दोनों ही शरीर सामान्यतः सब संसारियों के हुवा करते हैं। कोई भी जीव इन से संसार में रहित नहीं मिलेगा। यदि किसी के ये दोनों शरीर न होंगे, तो वह संसारी ही नहीं कहा जासकता। एकेन्द्रिय से लेकर सर्वार्थ-सिद्धि पर्यन्त के देव तक सभी प्रकार के संसारी जीव इन दोनों शरीरों से युक्त हैं। कोई भी जीव इनसे नहीं बचा है।

औदारिक आदि पांचों शरीर संसारी जीवों के होते हैं, यह सामान्य से कहा गया है, परन्तु एक साथ एक आत्मा के कितने शरीर हो सकते हैं? यह बताने के लिये सूत्र कहते हैं—

तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्ना चतुर्भ्यः ॥४३॥

सूत्रार्थः—(तदादीनि) इन दोनों (तैजस और कार्माण शरीर) शरीरों को आदि लेकर (भाज्यानि) विभाजित किये हुये (एकस्य) एक आत्मा के (युगपत्) एक साथ (आचतुर्भ्यः) चार शरीर तक होसकते हैं।

विशेषार्थः—यदि दो शरीर हों तो तेजस और कार्माण शरीर होते हैं, तीन हों तो औदारिक, तैजस, और कार्माण शरीर होते हैं, अथवा वैक्रियिक, तैजस, और कार्माण, ये तीन शरीर भी होते हैं, परन्तु ये तीन शरीर देव गति और नरक गति में ही होते हैं। यदि किसी के एक साथ चार शरीर हों, तो औदारिक, आहारक, तैजस, और कार्माण शरीर होते हैं। जिसके वैक्रियिक होता है, उसके आहारक शरीर नहीं होता है। और जिस के आहारक शरीर होता है, उसके वैक्रियिक शरीर नहीं होता है। आहारक और वैक्रियिक शरीर का आपस में विरोध है। इस

कारण एक समय में पांचों शरीर होना असंभव है। मात्र एक शरीर वाला भी कोई जीव नहीं होता है। और कोई कोई औदारिक, वैक्रियिक, तैजस, और कार्माण इस प्रकार भी चार शरीर होना मानते हैं। क्योंकि आहारक लब्धि और वैक्रियिक लब्धि की उत्पत्ति परस्पर विरुद्ध होने से एक साथ नहीं हो सकती। लब्धि प्रत्यय वैक्रियिक तो मनुष्य और तिर्यंच दोनों के होता है, और लब्धि प्रत्यय आहारक चतुर्दश पूर्व के धारी संयत अप्रमत्त के होता है। सारांशतः किसी भी जीव के एक काल में पांचों शरीर किसी भी दशा में नहीं हो सकते हैं। अतएव उपर्युक्त रीति से चार शरीर ही युगपत् हो सकते हैं।

अब शरीरों के विशेष वर्णन के लिये सूत्र कहते हैं—

निरुपभोगमन्त्यम् ॥४४॥

सूत्रार्थः—(अन्त्यम्) अन्त का कार्माण शरीर (निरूपभोगम्) उपभोग रहित अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा शब्दादिक विषयों के उपभोग से रहित है।

विशेषार्थः—विग्रह गति में भाव स्वरूप इन्द्रियों के रहते हुये भी द्रव्य स्वरूप इन्द्रियों की रचना का अभाव है, इस लिये शब्द आदि का अनुभव न होने से कार्माण शरीर निरुपभोग ही है, उपभोग सहित नहीं है। जो शरीर योग में निमित्त हैं, उन शरीरों में अन्त का शरीर निरुपभोग है। औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, और कार्माण, ये चार शरीर योग में कारण हैं, इस लिये इन सब के अन्त में रहनेवाले कार्माण शरीर को 'निरुपभोग' कहा गया है, तैजस शरीर योग का कारण ही नहीं हो सकता, इसलिये उपभोग के विचार में उसका अधिकार न होने से उसे निरुपभोग नहीं

कहा जा सकता, इस तरह से जब तैजस शरीर को निरुपभोग पना सिद्ध न होसका, तब तैजस व कार्माण शरीर से भिन्न सब शरीर उपभोग सहित हैं। इन्द्रियों के द्वारा विषयों के अनुभव करने को 'उपभोग'‡ कहते हैं। कार्माण शरीर की निरुपभोगता यही है, कि उसके द्वारा सुख दुःख और कार्मानुबन्ध का अनुभव तथा निर्जरा प्रगट रूप से नहीं होसकती। योग के १५ भेद हैं-उनमें औदारिक, औदारिक मिश्र, वैक्रियिक, वैक्रियिक मिश्र, आहारक, आहारक मिश्र, और कार्माण ये सात भेद काय योग के माने गये हैं। इनमें तैजस योग नाम का कोई भी भेद नहीं माना गया। इस लिये तैजस शरीर योग में कारण नहीं है।

अब औदारिक शरीर की विशेषता बताने के लिये सूत्र कहते हैं—

गर्भ सम्मूर्छनजमाद्यम् ॥४५॥

सूत्रार्थः—(गर्भ सम्मूर्छनजम्) जो गर्भ जन्म और सम्मूर्छन जन्मसे उत्पन्न होता है। वह (आद्यं) आदिका औदारिक शरीर है।

विशेषार्थः-औदारिक (स्थूल) शरीर गर्भ अथवा सम्मूर्छन जन्म में उत्पन्न हुवा करता है। औदारिक शरीर मनुष्य और तिर्यंचों के होता है, और ये दोनों ही प्रकार के जीव गर्भ अथवा सम्मूर्च्छन जन्म से उत्पन्न होते हैं, अतएव औदारिक शरीर ही गर्भ अथवा सम्मूर्च्छन जन्म से होता है, दूसरा कोई शरीर गर्भ और सम्मूर्च्छन जन्म से नहीं होता है। और गर्भ और सम्मूर्छन जन्म वाले नियम से औदारिक शरीर के धारी होते हैं।

अब वैक्रियिक शरीर की उत्पत्ति के विषय में सूत्र कहते हैं-

औपपादिकं वैक्रियिकम् ॥४६॥

---

‡ इन्द्रिय निमित्ता हि शब्दादि उपलब्धि उपभोगः। श्लो० वा०

सूत्रार्थः—(औपपादिकम्) जो उपपाद जन्म से होता है, वह (वैक्रियिकम्) वैक्रियिक शरीर है। यह शरीर सामान्यतः देव और नारकियों के होता है।

विशेषार्थः—यह शरीर देव नारकियों के उनकी उपपाद शय्या से उत्पन्न होता है। इसलिये इसको औपपादिक भी कहते हैं। संयमी (व्रती) मनुष्यों और तिर्यंचों में जो वैक्रियिक शरीर होता है, उसको वस्तुतः (दरअसल) वैक्रियिक नहीं कह सकते। क्योंकि सामान्यतः देव नारकियों के ही वैक्रियिक‡ शरीर होने का विधान है, अन्य के नहीं। क्योंकि मनुष्य और तिर्यंच गति में वैक्रियिक शरीर नाम कर्म का जब उदय ही नहीं होता है, तब वैक्रियिक शरीर उनके कैसे हो सकता है? यद्यपि मनुष्य और तिर्यंचों के भी वैक्रियिक शरीर होता है, परन्तु वह लब्धि प्रत्यय होता है। औदारिक शरीर में ही तप आदि के निमित्त से 'शक्ति विशेष' उत्पन्न होजाती है। औपपादिक वैक्रियिक शरीर वैक्रियिक वर्गणाओं से बनता है, वह देव नारकियों के अतिरिक्त अन्य जीवों के नहीं होता है। लब्धि प्रत्यय से उत्पन्न होने वाला वैक्रियिक शरीर वैक्रियिक वर्गणाओं से नहीं बनता है, वह तो औदारिक शरीर ही की एक 'शक्ति विशेष' है। इस प्रकार वैक्रियिक शरीर दो प्रकार का होता है। १—लब्धि प्रत्यय वैक्रियिक शरीर, २—औपपादिक वैक्रियिक शरीर। जिसमें से अब लब्धि प्रत्यय वैक्रि-

‡ यह वैक्रियिक शरीर छोटे से बड़ा और बड़े से छोटा किया जासकता है, और एक शरीर के द्वारा अनेक शरीर भी बनाये जासकते हैं। तथा उस मूल शरीर को भी नाना रूपों में बदला जासकता है। इस शरीर के परमाणु वैक्रियिक होने के कारण नाना आकारों में बदले जा सकते हैं। उन परमाणुओं में ही विचित्र शक्ति है।

यिक शरीर का वर्णन करने के लिये सूत्र कहते हैं—

लब्धि प्रत्ययं च ॥४७॥

सूत्रार्थः—वैक्रियिक शरीर (लब्धि प्रत्ययं च) लब्धि से अर्थात् तपो विशेष रूप ऋद्धि प्राप्ति के निमित्त से भी होता है।

विशेषार्थः—तपो विशेष की सामर्थ्य और शक्ति से अथवा ऋद्धि प्राप्ति के निमित्त से होने वाले शरीर विशेष को 'लब्धि प्रत्यय वैक्रियिक शरीर' कहते है। ऐसा वैक्रियिक शरीर मनुष्य और तिर्यंच दोनों ही के होसकता है। भोग भूमि में उत्पन्न होने वालों के भी विक्रिया होती है। और कर्म भूमि में चक्रवर्ती आदि गृहस्थों के भी विक्रिया होती है, जिस से कि चक्रवर्ती के शरीर से एक कम छयानवे हजार पुतले निकला करते हैं। विष्णु कुमार सरीखे मुनियों के भी विक्रिया हुवा करती है, ऐसे विक्रियोत्पन्न शरीर को जन्म जात नहीं कह सकते हैं। औपपादिक वैक्रियिक शरीर जन्म जात होने से निश्चय से होता ही है, परन्तु लब्धि का होना निश्चय रूप से नहीं, वह कभी होती है और कभी नहीं होती। विक्रिया दो प्रकार की होती है—एक पृथक् विक्रिया, दूसरी अपृथक् विक्रिया। जो अपने शरीर के सिवाय दूसरे शरीरादिक बनाना है, इसको 'पृथक् विक्रिया' कहते हैं और जो अपने ही शरीर को सिंह, व्याघ्र, हँस, आदि रूप से परिणत करना, अथवा अपने शरीर के अनेक आकार बनाना, इसको 'अपृथक् विक्रिया' कहते हैं। कर्मभूमिया तिर्यंच तथा मनुष्य, और कर्म भूमियों में चक्रवर्ती पृथक् विक्रिया करते हैं। सभी प्रकार के देवों के दोनों प्रकार की विक्रिया होती है। सोलह स्वर्गों से ऊपर के देवों के अपृथक् विक्रिया ही होती है, वह भी प्रशस्त (उत्तम) होती है। नरकों में अपृथक् विक्रिया ही होती है, किन्तु वह अप्रशस्त होती है। तिर्यंचों में भी अपृथक्

विक्रिया ही विशेष रूप से होती है। मनुष्यों में दोनों प्रकार की बिक्रिया होती है। क्या वैक्रियिक शरीर से भिन्न कोई दूसरा शरीर भी लब्धि प्राप्त होता है? इस प्रश्न के उत्तर में सूत्र कहते हैं—

तैजस मपि ॥४८॥

सूत्रार्थः-(अपि) तथा (तैजसम्) तैजस शरीर भी लब्धि प्रत्यय अर्थात ऋद्धि प्राप्त होता है। तपो विशेष की सामर्थ्य से वैक्रियिक शरीर की तरह तैजस शरीर भी लब्धि प्रत्यय होता है।

विशेषार्थः—तैजस शरीर दो प्रकार का होता है, एक साधारण, दूसरा लब्धि प्रत्यय। 'साधारण तैजस' तो सभी संसारी जीवों के (भक्षण किये गये आहार को पचाने वाला) होता है। 'किन्तु लब्धि प्रत्यय' किसी किसी के ही होता है। अतिशय युक्त तप के द्वारा जो ऋद्धि विशेष प्राप्त होती है, उसको 'लब्धि' कहते हैं। लब्धि प्रत्यय तैजस शरीर भी दो प्रकार का होता है। एक निःसरण रूप, दूसरा अनिःसरण रूप। निःसरणरूप तैजस शरीर, शुभ अशुभ के भेद से दो तरह का होता है, जिसमें से शुभ तैजस शरीर दक्षिण भुजा से निकला करता है, और अशुभ तैजस शरीर वाम भुजा से निकलता है। जैसे कि आहारक शरीर उत्तमांग सिर से निकलता है। अशुभ तैजस शरीर अशुभ कषाय से प्रेरित होने बर, और शुभ तैजस शुभ कषाय से प्रेरित होने पर निकला करता है। परन्तु जिस प्रकार अशुभ तैजस अपना कार्य करके लौट कर योगी (साधु) को भी भस्म कर देता है, और वह साधु भी फिर नरक में जाता है। जैसे कि द्वीपायन मुनि के शरीर से अशुभ कषाय से प्रेरित होकर अशुभ तैजस शरीर प्रगट हुवा था। उस अशुभ तैजस शरीर ने समूची द्वारिका नगरी को भस्म करके फिर लौट कर उन द्वीपायन मुनि को भी भस्म किया, और वे मर कर

नरक में गये। ऐसा शुभ तैजस नहीं करता है, वह तो अपना शुभ कार्य करके वापिस लौट कर मुनि के शरीर में ही प्रवेश कर जाता है, किन्तु वह भी शुभ कषाय से प्रेरित होकर प्रगट होता है। कोप के आवेश से शाप देने के लिये उष्ण प्रभाव वाला, अग्नि पुंज के समान, स्फुलिंगों से युक्त जो पुतला निकलता है, वह 'अशुभ तैजस' होता है, जैसा कि द्वीपायन मुनि के निकला था। यह पुतला जिसके ऊपर छोड़ा जाता है, उसको तत्काल भस्म कर देता है। जो 'शुभ तैजस' होता है, वह किसी पर दया करने के लिये मन की प्रसन्नता के आवेश से निकला करता है, इसकी किरणें शीतल हुआ करती हैं, जैसे कि मणियों का पुंज, अथवा अन्धकार के दूर करने वाले तेजो विशेष प्रकाश पुंज के समान होता है, अथवा चन्द्रमा के विमान के समान, और देदीप्यमान प्रभामण्डल की तरह होता है। यह पुतला जिस पर अनुग्रह करने की बुद्धि से निकल कर जाता है, उसको इसके निमित्त से संताप दूर होकर अत्यन्त सुख शान्ति प्राप्त होजाती है। तेज की अवस्था विशेष को ही 'तैजस शरीर' समझना चाहिये। वह तेजोमय और दीप्ति का कारण होता है। यह तैजस शरीर सभी संसारी जीवों के (किसी के कम और किसी के अधिक) पाया जाता है। जिन के अधिक होता है, उनका शरीर अधिक दीप्तिवान् होता है। और जिनके वह कम होता है उनका शरीर कम दीप्तिवान होता है, किन्तु होता सब संसारियों के है। जो तैजस शरीर सब संसारियों के होता है, वह तैजस शरीर नाम कर्म के उदय से होता है, वह लब्धि प्रत्यय नहीं होता है।

अब आहारक शरीर के विषय में विशेष कथन करने के लिये सूत्र कहते हैं—

शुभं विशुद्ध मव्याघाति चाहारकं प्रमत्त संयतस्यैव ॥४६॥

सूत्रार्थः—(आहारकं) आहारक शरीर (शुभं) शुभ है, अर्थात् शुभ कार्य को पैदा करता है। (विशुद्धं) विशुद्ध है, अर्थात् विशुद्ध कर्म का कार्य है, (च) और (अव्याघाति) व्याघात रहित है। तथा (प्रमत्त संयतस्य एव) प्रमत्तसंयत मुनि के ही होता है।

विशेषार्थः—जिन पुद्गल वर्गणाओं से आहारक शरीर बनता है, वे स्फटिक मणि के समान स्वच्छ होती हैं। उसमें प्रत्येक वस्तु का प्रतिबिंब पड़ सकता है। तथा इस शरीरके द्वारा हिंसा आदिक कोई भी पाप रूप प्रवृत्ति नहीं हो सकती। और न वह इस तरह की किसी भी पापमय प्रवृत्ति के द्वारा उत्पन्न ही होता है। अतएव इस शरीर को 'असावद्य' कहते हैं। इसके सिवाय यह शरीर अव्याघाती होता है, अर्थात् इससे किसी भी पदार्थ का व्याघात (रुकावट) नहीं होता, और न किसी अन्य पदार्थ के द्वारा इसका ही व्याघात हो सकता है। 'व्याघात' शब्द का अर्थ 'रोकना' या 'रुकना' है। आहारक शरीर सूक्ष्म होने से न किसीको रोकता है, और न किसी से रुकता है। यह शरीर लब्धि प्रत्यय ही होता है, 'तपो विशेष' आदि कारणों से उत्पन्न होता है। श्रुतज्ञान के किसी भी अत्यन्त सूक्ष्म विषय में जब मुनि को किसी भी प्रकार का संदेह होता है (जिसका समाधान केवली या श्रुत केवली के बिना न हो सके) तब उस विषय का निर्णय अथवा निश्चय करने के लिये (भरत ऐरावत क्षेत्रों में तीर्थंकरों की विद्यमानता न होने पर) वह भगवान् अरहन्त देव के पाद मूल (चरणों) में उस आहारक शरीर के द्वारा (महाविदेह क्षेत्रों में) जाकर और उनके दर्शन अभिवादन करके प्रश्न करता है। संशय निवृत्ति होजाने पर पुनः उसी स्थान पर लौट कर आजाता है, जहां से कि उस शरीर को

तय्यार करके निकाला था। वापिस आकर उसी औदारिक शरीर में ही प्रविष्ट होजाता है, निकलने के समय से लेकर औदारिक शरीर में प्रवेश होने के समय तक आहारक शरीर को सिर्फ अन्तर्मुहूर्त काल लगता है। इस शरीर की जघन्य अवगाहना एक हाथ से कुछ कम और उत्कृष्ट अवगाहना पूर्ण एक हाथ प्रमाण हुवा करती है। यह आहारक शरीर सब प्रमत्त संयमी मुनियों के नहीं होता है, किन्तु किसी किसी विशेष तपस्वी और संयमियों के ही होता है। यदि किसी समय मुनि के कोई विशेष लब्धि प्राप्त होजाय, तो वे इसी शरीर से उस की सत्ता मालूम किया करते हैं।

किस किस गति में कौन कौन सा लिंग (वेद) होता है ? यह बताने के लिये सूत्र कहते हैं—

नारक संमूर्च्छिनो नपुंसकानि ॥५०॥

सूत्रार्थः—(नारक संमूर्च्छिनः) नारकी और सम्मूर्छन जीव (नपुंसकानि) नपुंसक होते हैं। अर्थात् नारकी और सम्मूर्छन जीवों के मात्र नपुंसक लिंग ही होता है।

विशेषार्थः—रात दिन पाप संचय करने वाले प्राणियों को जो अत्यन्त दुःख दें, क्षण भर भी सुख के कारण न हों, वे नरक कहलाते हैं। उन नरकों में जाकर जो जीव उत्पन्न हों, वे नारकी कहे जाते हैं। जिसकी उत्पत्ति का कोई स्थान निश्चित न हो, जो सब जगह चारों ओर के परमाणुओं से उत्पन्न हों, वे 'सम्मूर्छन' जीव कहलाते हैं। ये दोनों ही प्रकार के जीव नपुंसक लिंग वाले होते हैं। नपुंसवेद और अशुभ नाम कर्म के उदय से जीव न स्त्री हो, और न पुरुष हो, वे नपुंसक कहे जाते हैं। यहां पर नारकी और सम्मूर्च्छन जीवों के नपुंसकलिंग ही होता है, अन्य कोई लिंग

नहीं होता, यह नियम रूप कथन किया है । स्त्री और पुरुषों के विषयभूत मनोज्ञ शब्दों का सुनना, सुगन्ध का सूंघना, मनोहर रूप का देखना, इष्ट रस का चाखना, और इष्ट स्पर्श का स्पर्श करना, आदि कारणों से उत्पन्न हुवा सुख नारकी जीवोंके बिल्कुल नहीं होता है । नारकी और सम्मूर्छन जीवों के पूर्व जन्म में ही नपुंसक वेद का निकाचित बन्ध हो जाता है, जिसका फल उनको अवश्यमेव भोगना पड़ता है । जिसका फल अवश्यमेव भोगना ही पड़े उसको 'निकाचित बन्ध' कहते हैं, अथवा जिसकी उदीरणा संक्रमण, उत्कर्षण, और अपकर्षण, ये चारों ही अवस्थायें न हो सकें, उसको 'निकाचित बन्ध' कहते हैं ।

देवों में कौनसा लिंग होता है ? यह बताने के लिये सूत्र कहते हैं—

न देवाः ॥५१॥

सूत्रार्थः—(देवाः) चार प्रकारके देव नपुंसक (न) नहीं होतेहैं । अर्थात् देवों में स्त्री वेद और पुरुष वेद ये दो ही वेद होते हैं । नपुंसक वेद नहीं होता है ।

विशेषार्थः—देवगति† में नपुंसक वेद का उदय नहीं होता है । और वहां उसके उदय के योग्य सहकारी कारणों का भी सर्वथा अभाव है । शुभगति नाम कर्म के उदय से होने वाला जो स्त्री और पुरुष सम्बन्धी सुख है, देव उसका निरन्तर भोग करते हैं । इसलिये उनके नपुंसक लिंग नहीं होता है । देवों के स्त्री और पुरुष दो ही वेद होते हैं । अर्थात् देवों में स्त्री और पुरुष ही होते हैं, नपुंसक नहीं होते हैं।

† देवगति में एक देव की कम से कम बत्तीस देवियां होती हैं । और उन देवियों की अधिक से अधिक पचपन पल्य की आयु होती है ।

नारकी, सम्मूर्छन, और देवों के सिवाय अन्य जीवों के कौन सा लिंग होता है ? यह बताने के लिए सूत्र कहते हैं—

शेषास्त्रिवेदाः ॥५२॥

सूत्रार्थः—(शेषाः) नारकी, देव, और सम्मूर्छन जीवोंके सिवाय गर्भज तिर्यंच, और मनुष्य* (त्रिवेदाः) तीनों वेद वाले अर्थात पुरुष, स्त्री, और नपुंसक होते हैं।

विशेषार्थः—नाम कर्म और नो कषाय (वेद कर्म) के उदय से स्त्री आदि तीनों वेदों की उत्पत्ति होती है। जो अनुभव किया जाय, उसको 'वेद' कहते हैं और उसका दूसरा नाम 'लिंग' भी होता है, वह द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार का होता है। अंगोपांग नाम कर्म के उदय से योनि-लिंग आदि की रचना 'द्रव्य वेद' है। और मोहनीय कर्म के नो कषाय (वेद) के उदय से स्त्री आदि लिंगों के अनुकूल परिणाम विशेष (काम सेवन की इच्छा) होना, 'भावलिंग' है। स्त्री वेद के उदय से जिस में गर्भ ठहरे, उसका नाम 'स्त्री' है। और पुरुष वेद के उदय से जो सन्तान को पैदा करे, उसका नाम 'पुरुष' है। गर्भ का ठहरना, एवं सन्तान का उत्पन्न करना, इन दोनों प्रकार की सामर्थ्य से जो रहित हो, वह 'नपुंसक' होता है। स्त्री वेद को अंगारे के समान माना है। पुरुष वेद को फूंस की अग्नि के समान, और नपुंसक वेद को ईंट की भट्टी की अग्नि के समान कहा गया है। पुरुष की कामाग्नि जल्दी शान्त होजाती है, इस लिये वह फूंस की अग्नि के समान है। अंगारे (गोबरके बने हुये कंडों या उपलों की अग्नि) की अग्नि गुप्त और कुछ समय तक ठहरने वाली होती है, अतएव स्त्री की

* भोग भूमि के उत्पन्न मनुष्य और तिर्यंचों के और म्लेच्छ खंड के स्त्री पुरुषों के स्त्री और पुरुष दो ही वेद होते हैं। नपुंसक वेद नहीं होता।

कामाग्नि कुछ काल तक ठहरने वाली होती है। और ईंटों की भट्टी की अग्नि सर्वदा धधकती रहती है, उसी प्रकार नपुंसक की कामाग्नि सदैव प्रज्वलित रहती है, उसकी काम वासना सदैव जागृत रहती है।

तीनों वेदों में पुरुष वेद को ही साक्षात् मुक्ति का कारण (साधन) माना गया है। देव, नारकी, भोगभूमियां और सम्मूर्च्छन जीव इनका जो द्रव्य वेद होता है, वही भाव वेद होता है, किन्तु शेष मनुष्य और तिर्यंचों में यह नियम नहीं है, उनके द्रव्य वेद और भाव वेद में विषमता भी पाई जाती है। वेद कर्म (नोकषाय) के उदय अथवा उदीरणा होने से जीव के परिणामों में बड़ा भारी अन्तर पड़ जाता है, और इस मोह के उदय से यह जीव गुण अथवा दोष का विचार नहीं कर सकता है। तृण की अग्नि के समान वेद जनित परिणामों से रहित जीवों को 'अपगत वेद' कहते हैं। ये जीव अपनी आत्मा से ही उत्पन्न होने वाले अनन्त और सर्वोत्कृष्ट सुख को भोगते हैं।

जीव जितनी आयु बांध चुके हैं, उतनी आयु के पूर्ण होजाने पर दूसरे शरीरों को धारण करते हैं, अथवा आयु के बीच में ही उन्हें प्राप्त शरीर छोड़कर दूसरा शरीर धारण करना पड़ता है ? इस शंका के समाधान के लिये सूत्र कहते हैं—

औपपादिक चरमोत्तम देहा संख्येय वर्षायुषो ऽनपवर्त्यायुषः ॥५३॥

सूत्रार्थः—(औपपादिक चरमोत्तमदेहा संख्येय वर्षायुषः) देव, नारकी, चरमोत्तम देह, और असंख्यात वर्ष की आयु वाले भोग भूमि के जीव, (अनपवर्त्यायुषः) परिपूर्ण आयु वाले होते हैं।

अर्थात् किसी भी कारण से न्यून आयु होकर उनकी 'अकाल मृत्यु' नहीं होती है ॥५३॥

विशेषार्थ:—जिनका उपपाद जन्म होता है, उनको 'औपपादिक' कहते हैं। देव और नारकी जीवों का उपपाद जन्म होता है, इस लिये देव नारकी औपपादिक कहलाते हैं। 'चरम' शब्द का अर्थ 'अन्तिम पर्याय' है, जिन्होंने संसार परिभ्रमण को समाप्त कर लिया है, और जो उसी पर्याय से (जैसे-तीर्थंकरादिक) मोक्ष प्राप्त करते हैं, उनके ग्रहण के लिये यहां पर 'चरम' शब्द का प्रयोग किया गया है। 'उत्तम' शब्द का अर्थ 'उत्कृष्ट' है। जो उत्कृष्ट हों, वे 'उत्तम' कहलाते हैं। मनुष्यों में चक्रवर्ती आदि उत्कृष्ट हैं, इसलिये 'उत्तम' शब्द से यहां चक्रवर्ती आदि का ग्रहण समझना चाहिये। नहीं घटने योग्य है आयु जिनका, सो 'अनपवर्त्यायुष' है। जिनकी आयु का एक, दो, आदि संख्या से गणना न हो सके, किन्तु पल्य (असंख्यात का एक पैमाना) आदि से मालूम हो सके, उन्हें 'असंख्येय वर्षायु' कहते हैं, और वे उत्तरकुरु आदि में उत्पन्न होने वाले तिर्यंच और मनुष्य हैं। अर्थात यहां पर 'असंख्येय वर्षायु' शब्द से भोग भूमिया तिर्यंच और मनुष्यों का ग्रहण है।

सुमेरु पर्वत और निषधपर्वत के दक्षिण उत्तर तथा सौमनस विद्युत्प्रभ के मध्य का क्षेत्र 'देवकुरु' और सुमेरु पर्वत तथा नील-पर्वत के उत्तर दक्षिण तथा गन्धमादन और माल्यवान के मध्य-भाग का क्षेत्र, 'उत्तर कुरु' कहलाता है। हिमवान् पर्वत के पूर्व, पश्चिम, और विदिशाओं में तथा समुद्र के भीतर अन्तरद्वीप हैं, जिनमें कि अनेक आकृतियों के धारक मनुष्य हुवा करते हैं, ये सब असंख्यात वर्ष की आयु वाले होते हैं, मनुष्य क्षेत्र के बाहर जितने द्वीप और समुद्र हैं, उनमें भी तिर्यंच असंख्यात वर्ष की

आयु वाले होते हैं।

विष, शस्त्र, आदि बाह्य कारणों के द्वारा जो आयुका घट जाना है उसका नाम ‡ 'अपवर्त्य' है। जिन जीवों की आयु विष, शस्त्र, आदि से घट जाने वाली हो, वे 'अपवर्त्य आयु' वाले कहे जाते हैं और जिनकी आयु किसी भी विष शस्त्र आदि कारणों से घटने वाली न हो,वे 'अनपवर्त्य आयु' वाले समझना चाहिये। ऊपर जो औपपादिक और चरमोत्तम शरीरधारी आदि कहे हैं, उनकी आयु विष शस्त्र आदि बाह्य कारणों से घट नहीं सकती, इस लिये वे अनपवर्त्य आयु वाले हैं।

विष भक्षण से, अथवा विष वाले जीवों के काटने से, रक्त-क्षय, और धातुक्षय से, भय करने वाली वस्तु के दर्शन से उत्पन्न हुये भय से, शस्त्रों के घात से, शरीर वचन तथा मन द्वारा आत्मा को अधिक पीड़ा पहुंचाने वाली क्रिया करने से, श्वासोश्वास के रुक जाने से, और आहार नहीं करने से, इस जीव की आयु कम हो जाती है। इन उपर्युक्त कारणों से जो मरण हो, उसको 'अकाल मृत्यु' कहते हैं। अकाल मृत्यु का ठीक पता लगना तो कठिन है, क्योंकि इन उपर्युक्त कारणों के द्वारा मृत्यु होने पर भी संभव है, कि उस जीव की आयु समाप्त ही हो गई हो। परन्तु यहां पर तो इतना ही भाव लेना चाहिये, कि उपर्युक्त कारणों के मिलने पर इस जीव की आयु कम होकर अकाल मृत्यु हो सकती है। जैसे दीपक तेल और बत्ती से युक्त होते हुये भी तेज हवा लग जाने से बुझजाता है, और यदि हवाका बचाव किया जाय, तो दीपक बुझने से बच भी सकता है,और बच भी जाता है। यह उदाहरण अकाल

‡ बाह्यस्योपघात निमित्तस्य विष शस्त्रादेः सति सन्निधाने ह्रस्वं भवति इति अपवर्त्यं। स० सि०

मृत्यु पर अच्छी तरह घट सकता है। सारांशत मनुष्य और तिर्यंचों की कारण मिलने पर अकाल मृत्यु हो सकती है।

यहां पर 'चरम' शब्द का 'उत्तम' शब्द विशेषण है, इसलिये जो चरम और उत्तम देह का धारक होगा, वही अनपवर्त्य आयु वाला होता है, किन्तु जो केवल उत्तम शरीर का धारक होगा, वह अनपवर्त्य आयु वाला नहीं हो सकता। ब्रह्मदत्त और श्रीकृष्ण आदिक यद्यपि उत्तम देहके धारक थे, परन्तु चरम शरीरी नहीं थे। वास्तव में 'चरम शरीर' का अर्थ यही है, कि अब दूसरा शरीर धारण नहीं करना होगा, उसी शरीर से मोक्ष प्राप्त हो जायगी। इसलिये जो शरीर मोक्ष प्राप्ति का साक्षात् कारण है, वह स्वयं उत्तम है, उसकी उत्तमता प्रकट करने के लिये जो सूत्र में 'उत्तम' शब्द का उल्लेख किया गया है, वह केवल 'चरम शरीर' के स्वरूप प्रकट करने के लिये ही समझना चाहिये। इस प्रकार औपपादिक चरमोत्तम शरीरधारी और असंख्यात वर्ष की आयु के धारक 'अनपवर्त्य आयु' वाले हैं।

जिस प्रकार आम्र आदि फलों का जिस समय में पाक होना निश्चत है, उससे पहिले ही पाल आदि में रखनेसे बीच में ही पक जाना प्रत्यक्ष दृष्टि गोचर होता है, उसी प्रकार मृत्यु का जो समय निश्चित है, उसके पहले ही आयु कर्म उदीरणा के द्वारा बीच में ही मरण हो जाता है। इसप्रकार की मृत्यु के समय उसके समस्त आयु कर्म के परमाणु उसी थोड़े से समय में खिर कर झड़ जाते हैं। आयु कर्म के परमाणु शेष नहीं रहते हैं इसी को दूसरे शब्दों में अकाल मृत्यु कहते हैं। जैसे किसी गीले वस्त्र को सिकोड़ कर रख देने से उस गीलेपन के सूखने का जितना काल निश्चित है, उतने काल में ही जाकर वह गीलापन सूखेगा हवा और धूप में

यदि उस वस्त्र को फैला दिया जाय, तो बीच में ही उसका गीलापन सूख जाता है, इसी प्रकार विष शस्त्र आदि वाह्य कारणों के निकट न होने पर तो आयु का जितना काल निश्चित है, उतना ही विद्यमान रहता है, और उपर्युक्त वाह्य कारणों के समागम होने पर काल के पूर्ण न होने पर भी बीच में ही अकाल मृत्यु हो जाती है, इस लिये अकाल मृत्यु का मानना और होना सर्वथा युक्ति युक्त है।

यदि औपपादिक आदि से भिन्न संसारी जीवों की अकाल मृत्यु को नहीं माना जायगा, तो जो रोग नाश के लिये चिकित्सा आदि कार्य किये जाते हैं, वे निष्फल माने जायेंगे। क्योंकि आयु का जितना काल निश्चित है, उससे पहले बीच में तो मृत्यु होगी नहीं, फिर इस आशा से कि यह रोग से मुक्त होकर जी जायगा, चिकित्सा कराना व्यर्थ है। निश्चित काल के भीतर मरण होता ही नहीं, यह बात भी ठीक नहीं है, क्योंकि तलवार आदि से मृत्यु होती दिखाई देती है, इसलिये अकाल मृत्यु मानना उचित है। विष, वेदना, रक्त क्षय, भय, संक्लेश, शस्त्रघात, श्वासावरोध,तथा आहारनिषेध,ये असमय मरनेके आठ कारण समझना† चाहिये।

कोई कोई महाशय श्वासोश्वास के ऊपर आयु के हीनाधिक होने का निश्चय करके अधिक श्वास चलने से उसे 'अकाल मृत्यु' का कारण समझते हैं, परन्तु उनका यह समझना ठीक नहीं है। उनके भ्रम को दूर करने के लिये ऊपर आठ कारण अकाल मृत्यु के बतलाये गये हैं, उसमें 'अधिक श्वास चलना' कोई कारण नहीं है, किन्तु इसके विपरीत 'श्वासावरोध' कारण है। यदि

† विस वेयण रत्तक्खय भयसत्थ ग्गहण संकिलेसेहिं।
उस्सासा हाराणं णिरोहदो छिज्जदे आऊ ॥५७॥ गो० सा०॥

उनका मानना ठीक है, तो जिस समय तलवार आदि के लगने से श्वास भी नहीं अधिक आता है, और मरण होजाता है, यह कैसे होता है ? वास्तव में बात यह है, कि आयु के समय को नापने के लिये श्वासोश्वास सब से छोटा एक पैमाना है, इसी पैमाने से आयु के समय का नाप होता है। स्वस्थ मनुष्य एक मुहूर्त में ३७७३ बार श्वासोश्वास लेता है, और ३० मुहूर्त का एक दिन रात होता है। इस तरह से आयुके समयको नापने के लिये एक पैमाना होने के कारण यह व्यवहार में कहा जाता है, कि श्वासोश्वास के ऊपर आयु का हिसाब है। यह हिसाब आयु के समय के नापने का समझना चाहिये, न कि आयु के कम व अधिक होने का। यहां पर इतना और समझना चाहिये,कि अधिक दौड़नेसे अधिक श्वास आते हैं, उस समय काय और मन की क्रिया रूप संक्लेश परिणाम होते हैं, और उस संक्लेश परिणाम को अकाल मृत्युका कारण ऊपर बतलाया गया है। इस एक ही कारण को देख कर 'अधिक श्वास चलना' अकाल मृत्यु का कारण नहीं समझना चाहिये। और यह भी कारण का कारण है, संक्लेश परिणाम 'अधिक श्वास चलने' के अतिरिक्त अन्य कारणों से भी होसकते हैं, फिर एकान्त रूप से 'अधिक श्वास चलना' अकाल मृत्यु का कारण समझ लेना ठीक नहीं है।

यदि पांच सेर पानी को एक छटांक के किसी एक पैमाने से नापा जाय तो, वह पानी अस्सी बार में नप जायेगा, चाहे उसको कोई जल्दो नापे,और चाहे धीरे नापे, इस जल्दी और धीरे नापने से पानी कम व अधिक नहीं हो जाता है। इसी तरह धीरे और जल्दी श्वास लेने से आयु भी कम वा अधिक नहीं हो सकती है। आयु को पानी समझ कर जिस तरह धीरे व जल्दी नापनेसे पानी

कम वा अधिक नहीं हो जाता है ठीक उसी तरह जल्दी वा धीरे श्वास लेने से आयु भी कम तथा अधिक नहीं हो सकती है। श्वासोश्वास समय के नापने का पैमाना है, न कि आयु के नापने का। जब तक वह उस शरीर में रहेगा, तबतक वह उस समय को नापने के लिये श्वासोश्वास भी लेता रहेगा, आयु और समय दोनों भिन्न२ चीजें हैं। दोनों को एक ही समझ लेना भूल है श्वासोश्वास सभी के समय के नापनेका एक पैमाना है, और आयु सबकी पृथक् पृथक् है। व्यायाम करने और दौड़ने में भी अधिक श्वास निकलते हैं, परन्तु वह तो स्वास्थ्यवर्द्धक माना गया है। अच्छे २ डाक्टरों का कहना है कि जल्दी २ श्वासोश्वास लेने से फेफड़े ठीक होते हैं, फिर क्या कारण है, कि अधिक श्वास लेना आयु कर्म को घटाने वाला माना जाय। इस सब कथन का सारांश यही है कि आयु के हीनाधिक होने का कारण श्वासोश्वास नहीं है, किन्तु उपर्युक्त आठ कारणों से आयु कम हो सकती है। आयु के समय को नापने के लिये तन्दुरुस्त मनुष्य के श्वासोश्वास को सब से छोटा पैमाना समझना चाहिये, और वह सभी के समय को नापने के लिये है। समय और आयु कर्म ये दोनों ही भिन्न२ वस्तुयें हैं, फिर भी इन दोनों का आपस में बहुत कुछ सम्बन्ध है।

इस प्रकार श्रीमत्पूज्यवर्य आचार्य श्रीउमास्वामि कृत मोक्षशास्त्र अपरनाम तत्वार्थसूत्रकी [अटेर-ग्वालियर-निवासी सिद्धान्तभूषण, विद्यालङ्कार, पं० बटेश्वरदयालु बकेबरिया शास्त्री द्वारा निर्मित] तत्वार्थदीपिका नामक हिन्दी टीकामें दूसरा अध्याय समाप्त हुवा ॥२

*** समाप्तोऽयं प्रथम खंडः ***

अशुद्धियों का सुधार

पाठकों को नीचे लिखे अनुसार अशुद्धियों को शुद्ध करके पुस्तक का पाठ प्रारम्भ करना चाहिये—

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१६	४	चारासी	चौरासी
२०	२१	किंचित	किंचित्
२२	२	आर	और
२३	१६	विरोध	विरोधक
३३	२४	अगामि	आगामि
३५	२	मिर्मल	निर्मल
३७	१८	योजनीय	प्रयोजनीय
,,	१६	विपरीत श्रद्धानकरता,	विपरीत श्रद्धान करता है,
,,	२१	रागी	रोगी
४६	१०	त्तयोपशमिक लब्धि	त्तायोपशमिक लब्धि
४८	१	अनिवृतकरण	अनिवृत्तिकरण
४६	२	प०	पं०
,,	२४	से	की
५०	१२	गुण	गुणा
,,	१३	अन्तर्मुहुर्त	अन्तर्मुहूर्त
५१	६	परिणामां	परिणामों
५२	२०	गुण	गुणा
५४	१५	पुद्गलं	पुद्गल
५४	२१	यद्वाह्योपदेशाहते	यद्वाह्योपदेशादृते
५७	१६	इन	इस

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५८	२५	चतुर्विध	चतुर्विधः
६०	१०	माल	काल
६१	६	उनको	उसको
६२	१४	परिणामिक	पारिणामिक
६५	२०	की	का
७५	४	ज्ञानां	ज्ञानों
७६	२२	जोड़ रूप	जोड़ रूप ज्ञान को
,,	२३	सदृश्य	सदृश
८५	६	उसका	उसको
८६	२१	क	के
९६	२२	द्ध्यनेक	द्ध्यनेक
९९	२२	दुखगम्य	दुरवगम्य
१०४	२४	शखादि	शंखादि
१०६	७	सर्वाधि	सर्वावधि
,,	२३	से	के
१०७	१२	अप्रतिपाती	अप्रतिपाती
१११	१२	नौ इन्द्रिय	नो इन्द्रिय
११७	८	सज्ञा	संज्ञा
११८	१८	द्वार	द्वारा
१२०	११	साराशतः	सारांशतः
१२९	२०	ऽथानवगच्छति	ऽर्थानवगच्छति
१३८	१९	सकल्प	संकल्प
१३९	१०	तथा	तया
१३९	१५	तथा	तया

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१४५	६	किया	क्रिया
१४५	२१	(ऋजु)	ऋजु
१३६	२	काय	कार्य
१४६	१२	अगे २	आगे २
१४६	१८	नगम	नैगम
१५०	२०	हाती	होती
१५७	नोट—१५७ सफे से २२३ सफे तक लाइन के ऊपर 'दूसरा अध्याय' के स्थान 'पहला अध्याय' छप गया है।		
१६१	१५	की	'की' अधिक छपगई है
१६२	२२	सम्यत्क्व	सम्यक्त्व
१७१	२२	गण	गुण
१७६	१२	हयोपादेय	हेयोपादेय
१८५	२४	भवांकर	भवांकुर
१८६	१७	काई	कोई
१८७	२४	टोकायम्	टोकायाम्
२०३	१७	सुगध	सुगन्ध
२०८	१२	कम पिंड	कर्म पिंड
२१८	७	लव्य	लब्ध्य
२२१	२०	अथात	अर्थात्
२२३	२२	निवृत योनि	विवृत योनि
२२६	१८	जन्य	जन्म
२२६	२३	विक्रया	विक्रिया
५२४	४	प्रभाव	प्रभा

खंड-विभाग

'तत्वार्थ दीपिका' टीका के खंडों का विभाग इस प्रकार किया गया है—

प्रथम खंड (पहला, दूसरा, अध्याय) ।

द्वितिय खंड (तीसरा, चौथा, पांचवां, अध्याय)।

तृतिय खंड (छटवां, सातवां, अध्याय) ।

चतुर्थ खंड (आठवां, नववां, दशवां, अध्याय) ।

—लेखक

गयादत्त शर्मा के प्रबन्ध से
गयादत्त प्रेस, बाग दिवार देहली में छपा.